कार्य

ा

पटवर्धन

बीरबल सिंह मुकुटबिहारी लाल

राजाराम शास्त्री रमाशंकर पाण्डेय

सत्यप्रकाश शास्त्री

लेखकों से निवेदन

समाज में समाजविज्ञान, सामाजिक कार्य, मानवविज्ञान, संस्कृतिविज्ञान, अर्थशास्त्र और इनकी शाखाओं-उपशाखाओं से सम्बन्धित व्यावहारिक अध्ययनों और विचारात्मक तथा सैद्धान्तिक रचनाओं को स्थान दिया जाता है।

इसके अतिरिक्त गवेषणा-कार्यों और विभिन्न सामाजिक संगठनों और संस्थाओं की सामयिक प्रगति के समाचार और हिन्दी, अँग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा दी जाती है।

रचनाएँ हिन्दी में होनी चाहिए, किन्तु विशेष स्थिति में अन्य भाषाओं की रचनाओं के अनुवाद की व्यवस्था है।

लेख कागज के एक ओर टाइप किया हुआ अथवा साफ-साफ लिखा होना चाहिए।

अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर तथा जनवरी में प्रकाशित

वार्षिक मूल्य ८) एक प्रति २)

समाजविज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२

'समाज' त्रैमासिक

विषय-सूची

वर्ष ४, अङ्क ४ जनवरी १९५९ पूर्णाङ्क १६

दो शब्द

प्रस्तुत अंक में लोक-साहित्य सम्बन्धी लेखों का संग्रह है। ये सब लेख हाल में इलाहाबाद में हुए प्रथम अखिलभारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन में पढ़े गये थे।

इसके पहले अक्तूबर १९५८ के अंक में इसी सम्मेलन में पढ़े गये लोक-संस्कृति सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित किया गया था। इन सब निबन्धों के अतिरिक्त उक्त सम्मेलन में अंग्रेजी के लेख भी पढ़े गये थे जो कलकत्ते के 'फोक-लोर' त्रैमासिक में प्रकाशित हो रहे हैं। समाजविज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, इस सम्पूर्ण सामग्री को जल्दी ही पुस्तक रूप में प्रकाशित कर रही है, जिसमें लगभग ५०० पृष्ठ होंगे। यह पुस्तक विषय और क्षेत्र दोनों की दृष्टि से भारतीय लोक-साहित्य पर लिखी गई अब तक की किसी भी पुस्तक से अधिक समृद्ध और व्यापक है।

इस समस्त सामग्री को 'समाज' के पाठकों के लिए उपलब्ध करने का श्रेय 'अखिलभारतीय लोक-संस्कृति संघ' के अधिकारियों को है, जिनके हम अति आभारी हैं।

सम्पादक

खण्ड २

लोक-साहित्य

लोक-गीतों की कुछ सार्वभौम प्रवृत्तियाँ

चिन्तामणि उपाध्याय

देश और काल की मर्यादा में न बँध कर मानव हृदय की भावनाओं का स्पन्दन एक-जैसा ही होता है और यही कारण है कि समस्त संसार के लोकगीतों में सर्वत्र एक ही अन्तर्धारा प्रवाहित होती है। लोक-जीवन की अनन्तता में भावोर्मियों के मृदुकम्पन का इतिहास इस दृष्टि से बड़ा व्यापक है। सृष्टि के विकास से लेकर आज तक मनुष्य ने जो कुछ भी सोचा, अनुभव किया, और जीवन के संघर्ष में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा, उसका प्रत्यक्ष रूप विचित्रता से परिपूर्ण है। लोकगीतों में मानव हृदय के भाव लोक-जीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, सुख-दुख एवं प्रणय व कलह आदि के रूप में व्यक्त हुए हैं। लोकगीतों की इस अभिव्यक्ति में हमें मानव जीवन की उस प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं जहाँ साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास, प्रेम एवं घृणा आदि भावों को प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टाचार के कृत्रिम बन्धनों को स्वीकार नहीं करता। स्वच्छन्द भावना और उसकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति लोकगीतों का प्रथम लक्षण है। मनुष्य के भावों को प्रकट करने की विभिन्न प्रणालियों में लोकगीतों की जिन सामान्य एवं सार्वभौम प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है उनके द्वारा लोकगीतों के प्रकृत स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही लोकगीतों में प्राप्त निम्नलिखित सार्वभौम विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) निरर्थक शब्दों का प्रयोग,
(२) पुनरावृत्तियाँ,
(३) प्रश्नोत्तर-प्रणाली,
(४) टेक।

निरर्थक शब्दों के प्रयोग का कारण स्पष्ट है। लोकगीतों के रचयिताओं के पास शब्द का ज्ञान-भण्डार बहुत ही सीमित रहता है। शब्द थोड़े होते हैं और भाव बहुत अधिक होते हैं, अतः शब्द-चातुर्य की कमी को पूरा करने के लिये स्वरों की सहायता के साथ ही निरर्थक शब्दों का आश्रय लिया जाता है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति को गेयता के अनुकूल बनाना भी सहज हो जाता है। गीतों की पंक्तियाँ भी प्रायः दोहराई जाती हैं। यह पुनरावृत्ति संगीत के प्रभाव एवं ध्वनि-माधुर्य को साकार करती है। वस्तुतः

लोकगीतों में शब्दों की अपेक्षा लय को अधिक महत्त्व दिया जाता है। लय के द्वारा ही भावों की उठान को सहज रूप में व्यक्त करने की प्रेरणा होती है। भावों का भार वहन करनेवाले शब्द तो बाद में निसृत होते हैं।

पुनरावृत्तियाँ

लोक-गीतों में कुछ पंक्तियों को शब्दों के फेर-फार से बार-बार दुहराया जाता है। इन पुनरावृत्तियों में भाव-सौन्दर्य का चाहे अभाव रहे किन्तु किसी गीत को मौखिक परम्परा में जीवित रखने के लिये ये पुनरावृत्तियाँ बड़ी सहायक होती हैं। इस प्रकार के गीतों को बड़ी सरलता के साथ स्मृति में रख कर कण्ठस्थ किया जा सकता है। पुनरावृत्ति-शैली के कुछ गीत उल्लेखनीय हैं। गुजराती का एक गीत है—

"सोनल रमती रे गढला ने गोखे जो
गढला ने गोखे जो।
आगे आव्यो रे सोनल दादा नो देश जो
दादा नो देश जो॥
दादे दीधाँ रे सोनल घोलुडा घण जो
घोलुडा घण जो।[1]

इसी तरह अमेरिका के ओजार्क प्रदेश का गीत भी उल्लेखनीय है—

He bought for the younger a fine gold-ring
Most gently,
He bought for the younger a fine qoldring
And for the older not one thing,
Oh dear me.
He bought for the younger a beavers hat,
Most gently,
He bought for the younger a beavers hat,
And for the older she got mad at that.
Oh dear me.[2]

प्रश्नोत्तर-प्रणाली

लोकगीतों में प्रश्नोत्तर-प्रणाली अपनाने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। संवाद-शैली में भाव बड़ी सरलता के साथ व्यक्त हो जाते हैं। इसलिये उक्त शैली का प्रयोग लोकगीतों में एक रूढ़ि-सा बन गया है। प्रश्न में उत्पन्न जिज्ञासा बड़ी सरल होती है और उसका समाधान-कारक उत्तर भी सीधा-साधा एवं आडम्बर विहीन होता है—

१. रढ़ियाली रात, भाग १, पृ० १०७।
२. ओज़ार्क फ़ॉक सॉंग्स, पृ. ५७-५८।

Oh ! who will shoe my feet,
And who will glove my hand ?
And who will kiss my rosy cheeks,
When you are in furrin land ?

Your father will shoe your feet,
Your mother will glove your hand,
Some other will kiss your rosy cheeks
When I am in furrin land.[1]

गुजराती गीत—

काँ तो तारी माता एतने मारिश्रो से ?
काँ तो तारे दादे दीधी गाल ?
काँ तो तारा भाई बन्धे तने मोलाव्यो रे ?
काँ तो तारे वेरीए बतावी वाट ?
नथी मारी माताए मने मारिश्रो रे ,
नथी मारे दादे दीधी गाल ।
नथी मारे भाई-बन्धे मने मोलाव्यो रे ,
नथी मारे वरीए बतावी वाट ।[2]

टेक

टेक के द्वारा गीत के विस्तार एवं भाव-व्यंजना को गति मिलती है । वस्तुतः टेक गीत की भावना-जन्य आधारभूत पंक्ति होती है, जिसपर पूरे गीत का विस्तार किया जाता है । उक्त चारों प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य लोकगीतों में भी परिलक्षित होती हैं ।[3] इनके अतिरिक्त भारतीय एवं यूरोपीय लोकगीतों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी विचारणीय हैं । इनमें परम्परा के निर्वाह की प्रवृत्ति अधिक महत्वपूर्ण है । सामूहिक लोक-भावना पर आश्रित होने के कारण परम्परा मे प्रचलित लोकगीतों का अस्तित्व तो अपना विशेष महत्व रखता ही है किन्तु मौखिक परम्परा में रहने के कारण पुरातन भावनाओं की संस्थिति के साथ ही, उन भावनाओं के आधार पर जनमानस नवीन रचनाओं का निर्माण करने में भी सजग रहता है । भारतीय स्त्रियों के लोकगीतों के साथ आनुष्ठानिक प्रवृत्ति होने के कारण परम्परा के गीतों में परिवर्तन की उतनी संभावना नहीं है; फिर भी, बना-बनी, पारसियाँ एवं गालियाँ आदि प्रवृत्ति के लोकगीतों में विभिन्न युगों के परिवर्तन और

१. वही, पृ. ११८ ।
२. रढियाली रात, भाग ३, पृ. ११–१२ ।
३. "The characteristics of folk-songs are as to substance, repetitions, interjections and refrains as to form a verse accomodated to dance."—
George Sampson, Cambridge History of English Literature, pp. 106,

इतिहास का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस तरह के लोकगीत प्राचीन परम्परा के बन्धन से मुक्त हैं। इस प्रकार के गीतों पर सिनेमा के गीतों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यह प्रवृत्ति एक ओर पुरातन लोकधुनों का जहाँ लोप करती जा रही है, वहाँ जनमानस के प्रकृत स्वरूप को विकृति की ओर ले जाने का कारण भी बन रही है। वैसे सहज परिवर्तन की स्थिति उतनी भयावह नहीं है, क्योंकि लोकगीत अपनी मौखिक परम्परा के कारण एक से दूसरी पीढ़ी तक एवं एक स्थान से दूसरे स्थान तक अन्तरित होने में बहुत-कुछ बदल जाते हैं। यूरोपीय देशों में तो लोकगीतों के लुप्त होने का भय उत्पन्न हो गया है। यदि गीत लिपिबद्ध नहीं हुए तो परम्परागत गीतों के गायक की अप्रत्याशित मृत्यु हो जाने पर लोकगीतों के विलुप्त हो जाने का भय है।[1]

वास्तव में लोकगीतों का परम्परा के साथ एक ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है जो सभ्यता के चरम विकास की स्थिति में भी बना रहता है। उसको भुलाना एक दम सहज नहीं है। आज के उलझनमय एवं व्यस्त जीवन में लोकगीत उस पुराने मित्र के समान है जिसके कारण अच्छे समय की मधुर स्मृतियाँ एवं आनन्द के क्षण सजग हो उठते हैं।[2]

परम्परा-निर्वाह के साथ ही भारतीय लोकगीतों में पाई जानेवाली कुछ रूढ़ियाँ भी उल्लेखनीय हैं।

१ की संख्या—

लोकगीतों में संख्याओं का कुछ रूढ़ प्रयोग मिलता है। जहाँ संख्याओं का प्रयोग किया जाता है वहाँ वास्तविक रूप में अंकों की कोई अर्थसत्ता नहीं रहती और गणित की दृष्टि से उन संख्याओं का यथार्थ महत्व भी नहीं होता। वैसे भारतीय लोकगीतों में पाँच, सात एवं नौ की संख्या का विशेष उल्लेख हुआ है। लोक-जीवन की मान्यताओं में उक्त संख्याओं को शुभ माना जाता है।

५ की संख्या— —पाँच मोहर को कसूमल रंगायो।
—पाँच रूपया का पतासा मंगाव।
—पाँच करन की पिया बावड़ी।
(मालवी लोकगीत की पंक्तियाँ)

७ की संख्या— —सात सहेलड़ी वो।
—सात सैयर जल भरवाँ जाय॥ (गुजराती)

पाँच, दस एवं बीस की संख्या मनुष्य के आदिम परिगणन-ज्ञान की सूचक हैं। आदिम जातियों में हाथ-पैर के पाँचों अंगुली-अंगूठे को लेकर संख्या का निर्धारण किया जाता है।[3] किन्तु साधारण जनता में भी पचोल (५) छकड़ी (६) एवं कोड़ी (२०) आदि

१. ओजार्क फ़ोक सांग्स, अध्याय १, पृ. ३३।
२. ह्यूमर इन अमेरिकन सांग्स, प्रस्तावना, पृ. १४।
३. ई० बी० टेलर, एन्थ्रोपालाजी, जिल्द १, पृ. १३, जिल्द २, पृ. ६२।

संख्याओं के द्वारा जीवन का विनिमय-व्यापार चलता रहता है। परिगणन की आदिम शैली ने लोकगीतों में परम्परा का स्वरूप धारण कर लिया है। लोकगीतों में निम्नलिखित संख्याओं का रूढ़िगत प्रयोग होता है—

समूह का भाव प्रकट करने के लिये सात संख्या का प्रयोग—

—सात सहेलियाँ
—सात रानियाँ
—सात बेटा, आदि

हार (मौक्तिकमाला) नवसर का ही होता है। यहीं नवलख की संख्या भी उल्लेखनीय है। डेरे नवलख बाग में लगते हैं। रोना भी नवसर धार में ही होता है।

असंख्य अथवा परिगणन की सीमा से परे का भाव प्रकट करने के लिये छप्पन एवं द्वित्व की संख्या का प्रयोग किया जाता है—

—नव कोड़ी नाग ने छप्पन कोड़ी देवता
—जो-वे हारी बाट
—पाक इ पान-पचास

वैसे अत्रीस-बत्रीस (गुजराती) बावन-बीस, तेवन-तीस, आसठ-बासठ (मालवी) आदि संख्याएँ भी उक्त भाव को प्रकट करती हैं।

कुछ अतिशयोक्तियाँ

भावनाओं के वैभवमय क्षेत्र में प्रभुता, सम्पन्नता एवं विपुलता आदि को प्रदर्शित करने के लिये अतिशयोक्तियों का प्रयोग भी लोकगीतों की एक रूढ़िगत विशेषता है। मांगलिक अवसरों पर केसर से ही आँगन लीपा जाता है। उसमें मोती के अक्षत विकीर्ण होते हैं। चौक गजमोतियों से पूरा जाता है। प्रियतम के पत्र को पढ़ने के लिये दीप संजोने में नौ मन तेल जल जाता है। दीपक भी मिट्टी के नहीं, सोने और चाँदी के ही होते हैं। लोकगीतों के क्षेत्र में, भावना के लोक में सोने-चाँदी एवं रत्न-मोतियों की मानो कमी ही नहीं है। पत्नियों का वर्ण-सौन्दर्य भी स्वर्ण और रजत की चमक में ही परखा जाता है।

अन्तहीन परिगणन (Ad Infinitum)

भारतीय स्त्रियों में गीतों का निर्माण करने की प्रवृत्ति अधिक सजग रहती है। गीत की एक पंक्ति—टेक—को लेकर अपने मन से अनेक वस्तुओं का उसमें समावेश कर स्त्रियाँ गीत के कलेवर को बढ़ाती चलती हैं। एड-इन्फिनिटम अथवा अन्तहीन परिगणन का सिद्धान्त स्त्रियों के गीतों पर पूर्णतः लागू होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य लोकगीतों में इस तरह के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

"चौपड़ काय को मंगाई रसिया, गोरी खेलन को तरसे !
बिड़ला (पान) काय को मंगाया, गोरी चाबन को तरसे,
ढोल्या (पलंग) काय को मंगाया, गोरी पोढ़न को तरसे !"

प्रस्तुत गीत में वस्तुओं के उल्लेख का कोई अन्त नहीं। इत्र की शीशी, पुष्प-हार, सुन्दर वस्त्र, विभिन्न आभूषण, मिठाई एवं उपभोग्य अनेक वस्तुओं के उल्लेख से गीत बढ़ता ही जाता है। पश्चिमी लोकगीत का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

"Oh ! father, have brought my gold,
Father have you paid my fees ?
Oh, have come to see my hung
On younder gallows tree."

पिता के पश्चात् माता, भाई, बहिन एवं परिवार के अन्य संबंधियों के उल्लेख में उपर्युक्त गीत का कलेवर बढ़ा दिया गया है।

पंजाबी लोक-साहित्य

नरेन्द्र धीर

प्राचीन काल में पंजाब की भूमि 'सप्तसिन्धु' के नाम से प्रसिद्ध थी। आर्यों ने सर्वप्रथम यहीं सामगान प्रारम्भ किया था। वैदिक ऋचाओं के निर्माण-स्थान का सौभाग्य इसी पंचनद की भूमि को प्राप्त है। वैदिक ऋषियों ने उस प्राचीन काल में सामगीत की जो निर्मल निर्झरिणी प्रवाहित की उसकी धारा आज भी लोक-गीतों के रूप में अविच्छिन्न रूप से गतिशील है। अन्य प्रान्तों की भाँति पंजाब भी लोक-गीतों का भण्डार कहा जाय तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी।

पंजाबी लोक-साहित्य विभिन्न रूपों तथा विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पंजाब की विभिन्न बोलियों में लोक-साहित्य प्रचुर परिमाण में प्राप्त होता है। पंजाब भारत का प्राचीनतम समृद्धिशाली देश रहा है। इस कारण यहाँ की संस्कृति भी परम पुरातन है।

लोक-साहित्य अधिकतर लोगों की जिह्वा पर ही जीवित रहा है। इसकी यात्रा की कहानी बड़ी रोचक तथा संघर्षपूर्ण है। लोक-साहित्य अपने रूप को प्रतिक्षण परिवर्तित करता रहता है। उसकी भाषा और छंद में ही परिवर्तन नहीं होता बल्कि स्वरूप में भी पर्याप्त परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

पंजाबी लोक-साहित्य विभिन्न अंगों में बिखरा पड़ा है। उसका वर्गीकरण साधारणतया निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

मानव जीवन में नित्यप्रति गाये जाने वाले गीत

(१) थाल
(२) लम्बे छोटे गाउण
(३) माहोमाह या बारहमाँह
(४) पथिकों के गीत
(५ टप्पे
(६) सती के गीत
(७) घुमाल
(८) लुड्डी
(९) अलगोजा
(१०) सुराँ
(११) वार
(१२) चिट्ठे
(१३) रेलाँ
(१४) लोरियाँ
(१५) वर्षगाँठ के गीत
(१६) आरती

(१७) खेल के गीत
(१८) बोलियाँ
(१९) सौत के गीत
(२०) घुमाकड़ा
(२१) झल्ली
(२२) तुम्बा
(२३) सद्द
(२४) जंगनामे
(२५) गुलज़ार
(२६) ख्यूड़े
(२७) किक्ली
(२८) सतवारे
(२९) मंदिरों के गीत
(३०) माहिये
(३१) बुझारतें
(३२) बाग्घो
(३३) भंगड़ा
(३४) वंझली
(३५) काटो
(३६) झोक
(३७) क़िस्से
(३८) जिन्दुआ
(३९) पत्रों के गीत
(४०) ढोला
(४१) चक्की के गीत
(४२) दोहड़े
(४३) बिलड़े
(४४) हास-परिहास के गीत
(४५) काफियाँ
(४६) चरखे के गीत
(४७) लाभ के गीत

इत्यादि

संस्कारों के गीत

(४८) बधावा, मुमारखाँ या वधाइयाँ
(४९) छटी के गीत
(५०) कुड़माई, सगाई या टिक्का
(५१) ब्रह्मभोज के गीत
(५२) घोड़ी या घड़ोली
(५३) छटियों के गीत
(५४) बरात को सिठणी या घोड़ा वेहड़ा
(५५) 'माँजा' देने के गीत
(५६) वेदी के गीत
(५७) कन्या विदाई के गीत या 'बिदा'
(५८) पानी वारने के गीत
(५९) मुण्डन के गीत
(६०) पुड़ी के गीत
(६१) कड़ाही के गीत
(६२) सोहाग डोली, कामण
(६३) जण्डी काटने के गीत
(६४) बटने के गीत या 'सेवल'
(६५) 'खट्ट' के गीत
(६६) लावाँ के गीत या 'खारे'
(६७) वर-वधू के स्वागत गीत
(६८) 'कंगणों के गीत
(६९ सौंत के गीत
(७०) वर-वधू-मिलन के गीत
(७१) मुकलावे के गीत

व्रतों-त्योहारों के गीत

इन गीतों में विभिन्न देवी-देवताओं की कथायें तथा उनसे किसी प्रकार की वर-प्राप्ति आदि का उल्लेख होता है तथा उनकी विभिन्न प्रकार से स्तुति की जाती है।

(७२) 'तियाँ' के गीत
(७३) भाईदूज या 'रखड़ी' के गीत
(७४) दशहरे के गीत 'राम धुन'
(७५) संक्रान्ति के गीत
(७६) 'लोहड़ी' के गीत
(७७) गूगे के गीत
(७८) देवी दीश्रों भेटों
(७९) होहली या होली
(८०) दिवाली या 'दीवा'
(८१) 'करुए' के गीत
(८२) 'साँझी' के गीत
(८३) 'विसाखी' के गीत
(८४) झकरी

इत्यादि

नित्यप्रति वार्तालाप में आने वाला साहित्य

बुझारतें
अखाण (साधारण आख्यान)
पखाणें (सामाजिक प्राख्यान)
चुटकुले या 'घाड़तें' (खेती सम्बन्धी आख्यान)
अखाण (पशु-पक्षी सम्बन्धी आख्यान)
नुस्खे (पशु एवम् मनुष्य सम्बन्धी स्वास्थ्यदायक नुस्खे)
जड़ी-बूटियों की पहिचान और उनके उपयोग सम्बन्धी 'अखाण'
पेशेवर जातियों के धन्धों के सम्बन्ध में 'अखाण या चुटकुले'

पेशेवरों के गीत या जातीय गीत

(८५) हलवाहों के गीत
(८६) गाड़ीवालों के गीत
(८७) पनिहारिनों के गीत
(८८) नाथों के गीत
(८९) तेलियों के गीत या 'कोल्हू'
(९०) मल्लाहों के गीत
(९१) सपेरों के गीत
(९२) इज्जड़ के गीत
(९३) मिरासियों के गीत
(९४) पुरातनकालीन अन्य जातियों के गीत जिनमें सिकलीगर, बाजीगर, सिरकीबन्ध, कुचबन्ध, ओड, साँसी, गडडीवाले तथा कंजर आदि सभी मिलते हैं।
(९५) खुसरों के गीत
(९६) मुसलमानों के घरों में प्रचलित गीत
(९७) नचारों के गीत
(९८) हरिजनों की विभिन्न जातियों के विभिन्न गीत
(९९) स्वाँग-स्यापा
(१००) गुज्जरों के गीत
(१०१) जाटों के गीत
(१०२) कुम्हार के चाक के गीत
(१०३) भिखमंगों के गीत
(१०४) बंजारों के गीत
(१०५) गुजरी के गीत
(१०६) भराइयों के गीत

लोक-साहित्य के भेद

लोक-गीतों के और भी अनेक रूप मिलते हैं, जिन्हें उपर्युक्त वर्गों का उपभेद ही कहा जा सकता है। लोक-साहित्य के और भी कई विभाग हैं, जिनमें—

(१) लोक-कथायें
(२) त्योहारों की लोकवार्तायें
(३) लोक-गाथायें
(४) जातीय अन्तर-कथायें
(५) लोक-मनोरंजन के खेल-तमाशे-मेले इत्यादि
(६) हास्यप्रधान कथायें
(७) लोक-नृत्य (किकली, लुड्डी, बाग्घी, फुम्मनियाँ, भंगड़ा, गिद्दा,) प्रारम्भिक नृत्य (होली, विसाखी, टिपरी आदि)
(८) गुड़िया, कठपुतली, नट, बाजीगर या मदारियों के खेल

(९) लोकवाद्य (तूम्बा, सारंगी, ढोलकी, रोड़ा, डफ्फ, मंजीरे, अलगोजा, वंझली, बीन, ढोल, खड़ताल, सिंगी, नगारा, बाँसुरी, छैणें, चिमटा, किंग, डमरू, इकतारा, ढड्ड, सारंगी, घण्टी या टल्ली इत्यादि ।)

(१०) लोकनाट्य—रासलीला, रामलीला, चम्बोले, स्वाँग, नकल, होली, रासधारिये, ख्यूड़े ।

लोककाव्य—हीर-राँझा, सस्सी पुन्नू , मिरज़ा साहिबाँ, रूप-बसन्त, सोहनी-महीवाल, कीमामलकी, बुग्गा बसन्ती, साहेनाजनी, परतापी-करपाला, यूसुफ़-ज़ुलेखाँ, रसालू , होही, पूरण, गोपीचन्द, भरथरी, विक्रम, जग्गा, बालो-महिया, कलरूप-कामलता, हकीकतराय, नलदमयन्ती आदि के विभिन्न किस्से, जिन्हें विभिन्न लोक-कवियों ने अपनी शैली का शृंगार बनाया है । पंजाबी लोक-कवियों ने निम्नांकित छन्दों का प्रयोग किया है ।

लोक-छन्द—दोहड़ा, बोल, काफ़ी, टप्पा, बारहमाँह, झलणा, विशनपदा चौंद, बित्ताँ, सतवारे, गीत, सद्दाँ, वैण, अलाहुणियाँ, घोड़ियाँ, आरती, मंतर या झाड़े, बुझारतें, बैंत तथा बोलियाँ आदि ।

लोक-आभूषण—आभूषणों के सम्बन्ध में गीत देना यहाँ उपयुक्त होगा, जिसमें लगभग सभी आभूषणों का नाम आ गया है तथा प्रत्येक की महत्ता की उपमा ब्रिटिश नौकरशाही से दी गई है ।

"तेरा आशक लुड्डा दुख देवे, कि छड़याँ दी हिक्क फूकदा
तेरी गुत्त ते कचहरी लगदी, कि दूरों दूरों पैण झगड़े
तेरे सब्जे, चंगियाड़, वाले, डंडियाँ गल्लाँ ते परेड करदे
सग्गी-फुल्ल ने शिशन जज मुंशी कौडडा मोहतम है
वाले, डंडियाँ कमिश्नर डिप्टी लोटन नायब बने
नत्थ, मछली, मेख ते कोक्का इह सारा छोटा मेहकमा
तेरा लौंग करे सरदारी थानेदारी नुकरा करे
चौकीदारनी बनी बघियाड़ी तील्ली है तहसीलदारनी
कंडी, हंस दा पै गया झगड़ा हार अगवाही दे गया

तेरियाँ भाँजराँ तार अंगरेजो मिएटाँ च देण खबराँ
बाँकाँ मार दीश्राँ हाक्काँ खरचयाँ नूँ बन्द कर दे कुड़िये
पट्टाँ दा मरोड़ा मारकेना तुरिये''

ऊपर २३ आभूषणों के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त पंजाब का 'रत्ता चूड़ा' भी अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिए महत्त्वपूर्ण सौभाग्य-चिन्ह है।

लोक-उपमायें

पञ्जाबी लोक-काव्य में उपमाओं का विधान अति परिष्कृत एवम् मधुर है। उर्दू की नज़ाकत पंजाबी लोक-उपमाओं में सर्वथा प्राप्त होती है। एक गीत देखिए जिसमें शरीर के विभिन्न अंगों की उपमा दी गई है—

"तेरी बाहाँ वेलण वेल्लियाँ, तेरे मखमल वरगे हत्थ।
तेरी धुन्नी कौल शराब वा, तेरे बोतलाँ वरगे पट्ट॥
तेरी ठोड्डी शो कश्मीर दा, तेरी धार खण्डे दी नक्क।
तेरी दन्दनी दाने अनार दे, तेरे बुल पिपली दे पत्त।
तेरी गर्दन कूँज पहाड़ दी, तेरी काले मिरग दी अक्ख॥"

भावार्थ—तेरी भुजायें बेलन की भाँति हैं, हाथ मखमल की भाँति कोमल हैं।

—तेरी नाभि ऐसी है मानो शराब का भरा हुआ कटोरा हो तथा तेरी जंघायें बोतल की भाँति हैं।

—तेरी ठुड्डी काश्मीरी स्यो की भाँति है एवं खण्डे की धार की भाँति तेरी सुती हुई नाक है।

—तेरे दाँत अनार के दानों की भाँति हैं तथा तेरे होंठ पीपल के पत्ते की भाँति चिकने, पतले एवं कोमल हैं।

—तेरी गर्दन पहाड़ी कूँज (एक पक्षी) की भाँति पतली है एवं तेरी आँखें काले हिरण की भाँति हैं।

लोक-उपमाओं में प्रायः ऐसी ही उपमायें उपयोग में आती हैं जो लोक को अपने प्रतिदिन के जीवन में सहज ही दिखाई पड़ती हैं। एक और लोक-उपमा का सुन्दर उदाहरण देखिये—

"गोरी नहा के छप्पड़'न्वों निकली सुलफ़े दी लाट वरगी"

—गोरी स्नान करके ग्राम के छोटे तालाब से निकली है। वह इस प्रकार दिखाई पड़ रही है मानो किसी सुलफे की चिलम में से अग्नि की लाट निकली हो।

उपर्युक्त उपमा में सुन्दरी की कमनीयता, उसके श्वेत किन्तु लाली भरे रंग की ज्योति एवं उसके सौन्दर्य को अत्यन्त ही सुन्दर तथा सांकेतिक रूप में प्रस्तुत कर देना लोक-कवि का ही कार्य है। यों तो लोक-उपमाओं के हमें सहस्रों और भी सुन्दर उदाहरण मिल जायेंगे परन्तु विस्तार-भय के कारण उनका अधिक वर्णन उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

पञ्जाबी लोक-गीतों का वर्ण्य-विषय

पंजाबी लोक-साहित्य में शृङ्गार, विरह, चेतना, प्यार, शादी, मरण, युद्ध, शान्ति, वैराग्य, इतिहास, हास्य आदि के विभिन्न लोक-गीत प्राप्त होते हैं, परन्तु पञ्जाब के अपने मौलिक दो मुख्य विषय रहे हैं—सिपाही तथा कुँवारे लड़के जिन्हें पंजाबी में 'छड़ा' कहा जाता है। अन्य विषयों का भी उदाहरणस्वरूप एक एक लोक-गीत दे देना अनुपयुक्त न होगा, जिससे हमें पंजाबी लोक-साहित्य का कुछ परिचय अवश्य मिल जाये।

शृंगार—पंजाबी लोक-गीतों में शृङ्गार का पुट कूट-कूट कर भरा है कई शृङ्गारिक गीत तो अत्यधिक अश्लील हो गये हैं, किन्तु कहीं-कहीं सांकेतिक ढग से बड़े सुन्दर प्रयोग किये गये हैं—

"अखीं देख के सबर ना आवे यारा तेरा घुट भर लाँ"

—प्रियतम, मैं तुम्हें आँखों से निहारती अवश्य हूँ, परन्तु मुझे केवल देखने मात्र से सन्तुष्टि कहाँ; दिल में आता है कि मैं तुम्हारा एक ही घूँट में पान कर लूँ, जिससे मेरी कोई इच्छा शेष न रह पाये।

"पंजवारियाँ पँजहत्तर बूहे लंघ के आई आँ मैं वा बण के"

—प्रियतम, मैं तुम्हारे मिलन की प्यासी पाँच खिड़की तथा पचहत्तर द्वार लाँघकर आई हूँ; और आई भी हूँ हवा बनकर जिसे कोई देख भी नहीं सका।

"गोरा रंग ते शरबती अखीआँ घुंड़ विच्च कैद को तीआँ"

—गोरे रंग तथा शरबती आँखों को घूँघट में कैद कर दिया गया है।

विरह—पंजाबी लोक-गीतों में अधिकतर सिपाही के वियोग में विरहिणी तड़पती है। पञ्जाब में प्रायः युद्धों का आधिक्य रहा। यही कारण है कि पञ्जाब की महिला अपने ढोल–सिपाही के विरह में सदैव तड़पती रही।

"अक्ख फुट जाये नींद ना आवे, मित्तराँ कीहा मार गई।"

मुझे नींद नहीं आ रही है, मेरी आँखें फूटने को हैं। मुझे मेरे प्रियतम के विरह ने मारा है।

"नाले धार कढाँ नाले रोवाँ माही मेरा लाम नूँ गया।"

—मैं गाय का दूध निकाल रही हूँ, दूसरी ओर मेरी आँखों से अश्रुप्रवाह थम नहीं रहा है—मेरा प्रियतम युद्ध में गया है; उसके ही विरह में मेरी यह दशा है।

"की कल्लयाँ दा जीवणा, की कल्लयाँ दी कार
चढ़ी जवानी कूकदी, दूजा है दरकार॥"

—अकेले व्यक्ति का जीवन ही क्या है, अकेला व्यक्ति कुछ कर भी नहीं सकता। मेरे प्रियतम, मेरी भरी जवानी चीख-चीखकर कह रही है कि मुझे तुम्हारी आवश्यकता है।

चेतना—जिस प्रदेश पर अथवा जिस लोक पर जितने अधिक अनाचार होते हैं वह प्रदेश अथवा वह लोक अधिक चेतनाशील होता है। पंजाबी लोक-गीतों में कोरा शृंगार, कल्पना एवम् रोमांस की पुकार ही नहीं है, वरन् उनमें जीवन भी झाँकता नज़र आता है। संघर्षों की मिठास, अनुभवों की मुसकान, पीड़ा का अमृत, कसक एवम्

उत्पीड़न का हास्य भी इन गीतों में प्राप्त होता है। राजनीति, इतिहास और आर्थिक विषमता तो मानो इन गीतों में कूट-कूटकर भरी हुई है।

"बारीं बरसीं खट्टण गिया सी खट्ट के लियान्दी माया,
वारे जाइये भगतसिंह दे, जिन 'संबली' च बम्ब चलाया।"

प्रियतम! तुम बारह वर्ष से धन उपार्जन के लिए गए थे और बारह वर्ष में धन कमाकर लाये हो। किन्तु हम तो भगतसिंह पर न्यौछावर हैं, जिसने असेम्बली भवन पर बम चलाकर एक ही दिन में जन्म-जन्मान्तर के लिए अपना नाम कमा लिया।

"बारीं बरसीं खटण गिआ सी, खटके लि आन्दी चान्दी,
गोरे सारे न्हस जाणगे, राज करेगा गाँधी"

—तुम बारह वर्षों से धनोपार्जन के लिए विदेश गये हुए थे, जहाँ से चान्दी कमाकर लाये हो, प्रियतम! हमारे देश में गाँधीजी का आन्दोलन व्यापक हो चुका है। जिस कारण गोरी सरकार भागेगी और गाँधीजी का राज्य होगा।

देखिये ४०–५० वर्ष पूर्व के लोक-कवि को भली भाँति ज्ञात था कि गाँधीजी का व्यापक आन्दोलन अवश्य ही किसी दिन सफल होगा और अंग्रेज़ों को भागना होगा!

"काली तितली क मादों निकली, कि उड़दी नूँ बाज पै गया।"

काली तितली गन्ने के खेत से निकली ही थी कि उसके उड़ते ही उसपर बाज़ ने झपट्टा मारा; अर्थात् ज्योंही दीन-हीन कृषक जनता अपनी फसल लेकर खेतों से निकलकर उसके विक्रय के लिए बाज़ार अथवा मण्डी में आया कि उसपर धनिकों की गिद्ध-दृष्टि पड़ी और फ़सल का मूल्य नहीं के बराबर ही मिला।

"दे चरखे नूँ गेड़ा, लोड़ नहीं तोपाँ दी"

—चरखे को डटकर चलाओ, हमें तोपों की आवश्यकता नहीं।

गाँधीजी का आन्दोलन व्यापक हुआ, पंजाब का लोक-कवि चर्खे की महत्ता समझा तो बोल उठा कि चरखा कातने से आज़ादी निश्चय ही आ जायेगी।

नाभा के समीप जैतों नामक स्थान पर पण्डित नेहरू को नाभा नरेश ने बन्दी किया था। वहाँ गोली काण्ड भी हुआ था, जिसके कारण कुछ लोग शहीद हो गये। उसी घटना का स्मरण कराता हुआ यह लोक-गीत कितना सुन्दर है।

"जैतों जाके तुसीं पाओ शहीदी ओं शेरो"

—ऐ नवयुवको, तुम लोग जैतों जाकर शेरों की भाँति टूट पड़ो, फिर भले शहीद ही क्यों न हो जाओ।

"कांग्रेस क्यों भैड़ी जिहड़ी 'जादी' जादी कूके"

—वह कांग्रेस बुरी क्यों है जो हमें आज़ादी का नारा देती है।

युद्ध

"जन्म के नौ कुड़ियाँ, तेरी चीन दी खट्टी दामुँह भन्नदाँ"

—प्रियतम, मैं नौ कन्याओं को जन्म देकर तुम्हारी चीन में अर्जित कमाई का मुँह तोड़ दूँगी।

देखिये, दहेज प्रथा एवम् युद्ध पर एक साथ कितनी तीखी फटकार है इस बोली में। इसी प्रकार की अन्य भी कई बोलियां लोक में प्रचलित हैं। व्यंग्यात्मक ढंग से एक ही बोली में युद्ध का विरोध तथा सामाजिक कुरीतियों का निरूपण कितने सुन्दर ढंग से किया गया है।

"गड्डीये नी तेरे पहिये टुट जाण थारे टुट जाण वाहियां
गमरूँ तैं ढो लये नारा देण दुहाइयां।"

"रेल गाड़ी (भले ही तू एक अच्छा आविष्कार है) तेरे पहिये टूट जायें, तेरी धुरियें भी टूट जायें; तूने हमारे नवयुवकों को विदेश पहुँचा दिया है, जिसके कारण उनकी पत्नियां रुदन कर रही हैं।"

सिपाही की पत्नी अपने पति की प्रतीक्षा कर रही है, परन्तु उसकी कोई भी सूचना उसे नहीं मिलती, वह फिरंगी सरकार के नाश की कामना करती है।

"चंदा चढ़ाके चढ़ी आं चुवारे
देखां किते जानी नज़र ना आवे।
साडा सत्थर फिरंगिआँ नूं मारे
ना दिन्दा छुट्टियां, नां तलबां तारे
नौकर रख लै तूँ, छड़े ते कुँआरे
ना होण रन्नां, न पैण पुआड़े"

सिपाही की पत्नी अंग्रेज को कोसती हुई कह उठती है कि ओ फिरंगी तेरे बच्चे मर जायें, तूने हमारे प्रियतम को युद्ध में फँसा रखा है—

"तेरे मरन फिरंगिया बच्चे
तूँ नित्त-नित्त लाम छेड़दा यें
रन्ना वाले जंग जित्त दे

× × ×

कित्थे लिखया फिरंगिया दस्सवे !
छड़ियां नूं लैजा लाम ते
जित्त होजू वे फिरंगिया तेरी।"

सिपाही की पत्नी अंग्रेज के साथ युद्ध में जाने से भले ही रोकती हो, परन्तु जब भारतीय अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते थे तब वह उसे मना नहीं करती वरन् कहती है कि वह युद्ध में विजय प्राप्त करके ही घर लौटे और कभी भी युद्ध भूमि में पीठ न दिखाये! तीर सदैव छाती पर ही खायें, पीठ पर नहीं।

"काहनूं रोनीं रें ढिले जे बुल्ह करके
जंग जित्त के घरीं मुड़ना

× × ×

जाह वे, सिपाहिया, आवीं छेती, बहुती देर ना लावीं ।
शेरां वांगूं पालीं अणख नूं, पिठ ना कदी विखाईं ।
तेरे सिर ते वे, सेहरे बन्ह देऊं साईं"

—प्रियतमे ! तुम क्यों रोती हो ? मैं युद्ध में विजय प्राप्त करके ही घर लौटूँगा । सैनिक, तुम घर जल्दी ही युद्ध जीत कर आना । तुम अपने देश के स्वामिमान की रक्षा सिंहों की भाँति करना; कभी भी युद्ध में पीठ मत दिखाना । जब तुम युद्ध में विजेता होकर आओगे तब मैं तुम्हारे सिर पर सेहरा बाँधूँगी और हृदय से स्वागत करूँगी ।

शान्ति—एक ओर जहां युद्ध का आह्वान है वहां दूसरी ओर शान्ति की पुकार भी इन लोक-गीतों में प्राप्त होती है—

"मौत मौत ना कर नी जै कुरे, देख मौत दे कारे
पहिलां मौत ने दिल्ली ढाही, फेर वड़ी पटियाले
पटियाले वाले दे गभरू मर गये लाल दाढ़ियां वाले
नाभे वाले दी कंजरी मर गई, रौणक लै गई नाले
लड्डू जलेबियां गलियां रुलदे देख मौत दे कारे
जल ते फुल तरदे, चुकलै पतलिये नारे ।
जलते फुल्ल तर दे"

—जै कौर, तुम मौत-मौत न करो, तुम मौत की करतूत तो देखो; इसने दिल्ली का नाश कर दिया, फिर यही मौत पटियाला पहुँची जहां की पलटन युद्ध में काम आई और लाल-लाल दाढ़ियोंवाले सभी जवान युद्ध भूमि में काम आ गये । नाभानरेश को अंग्रेज ने भारत से निर्वासित कर दिया; अतएव नाभा का रास-रंग भी समाप्त हो गया । चूँकि देश में शान्ति नहीं है इस कारण मिठाइयां गलियों में इधर-उधर पड़ी हैं । देखो तो, मौत के कारण शहीदों की अस्थियां जल में प्रवाहित हो रही हैं । भविष्य में शांति के ही गीत गाओ और शान्ति की स्थापना की कामना करो ।

इतिहास—लोक-गीतों का ऐतिहासिक पक्ष अत्यन्त ही सबल एवम् सशक्त है । जो भी घटना घटित हुई वही लोक-गीतों में जागृत हो गई । नादिरशाही हुक्म प्रसिद्ध है । पंजाब के लोक-गीत में इसका उल्लेख पाया जाता है—

"हुकुम नादिरी तकदीर कादरी"

अहमद शाह अब्दाली ने जो अत्याचार किये वे भी लोग-गीतों से अछूते न रह सके—

"खादा पीत्ता लाहे दा रहिंदा अहमदशाहे दा"

राजे-रजवाड़ों के शासन में जनता बहुत त्रस्त थी । अंग्रेजी शासन में उसे आधुनिक सुविधायें प्राप्त हुईं—

"राजियां दे राज विच टिब्बे होये, फिरंगियां दे राज विच सड़क बनी"

मुग़ल शासन में नारी की लाज बचाना एक समस्या बन गयी थी । यद्यपि यह दशा मुग़लकाल के अन्तिम दिनों की है, परन्तु देखिए कितना हृदयग्राही है यह गीत । इसी गीत को मुझे मालवी, कौरवी राजस्थानी, बुन्देली तथा निमाड़ी में भी सुनने अथवा

पढ़ने का अवसर मिला है। इस गीत के रूपान्तर भी विभिन्न बोलियों में प्राप्त हुए हैं। गीत की कथा-वस्तु लगभग एक ही है! उपर्युक्त तथ्यों से इस गीत की सत्यता एवम् घटना का घटित होना निश्चित ही प्रतीत होता है! गीत की कथा यूँ है—

एक मुग़ल ने किसी भारतीय नारी को अपने कब्जे में कर लिया। नारी अपनी लाज बचाने के लिये काग को तथा आकाश में मँडराती चील को सन्देश देती है कि वह उसके पिता को जाकर सन्देश दे कि उसकी पुत्री दुखी है तथा मुग़ल के कब्जे में है। पिता अपने घर से चलकर मुगल के पास पहुँचता है तथा उससे कहता है कि वह धन-धान्य, सम्पत्ति जो भी चाहे लेले परन्तु उसकी पुत्री को छोड़ दे। मुग़ल किसी कीमत पर भी तय्यार नहीं होता। अन्ततः लड़की अपने पिता को विश्वास दिलाती है कि वह अपने पिता की पगड़ी की आन रखेगी। किसी दशा में भी वह पथभ्रष्ट नहीं होगी। तदुपरान्त आकाश में मँडराती चील को वह सन्देश देती है कि वह उसके भाई को सन्देश पहुँचा दे कि वह नीले घोड़े पर सवार होकर आये तथा अपनी बहिन को मुग़ल के पंजे से मुक्त करे। भाई आता है। मुग़ल को धन-धान्य आदि देने का बचन देता है, परन्तु वह नहीं मानता। भाई युद्ध के लिये तैयार होता है, परन्तु बहिन जानती है कि मुग़ल साम्राज्य में मुग़ल के साथ लड़ने से सम्भव है भाई मर जाये अथवा मरवा दिया जाये। अतः वह अपने भाई को लड़ने से रोकती है तथा उसे बचन देती है कि मैं उस माँ की चोली के दूध की लाज रखूँगी जिस माँ का दूध उसने तथा उसके भाई ने पिया है। भाई निराश वापस लौट जाता है। अन्ततः वह चील तथा काग को सन्देश देती है कि वह उसके प्रियतम को भेजे। उसका प्रियतम आता है वह मुग़ल को मारने की धमकी देता है, धन-धान्य, सम्पत्ति का भी लालच देता है। परन्तु मुग़ल नहीं मानता। रमणी अपने पति को भी युद्ध न करने के लिये अनुरोध करती है तथा कहती है कि वह अपनी सेज के फूलों की लाज रखेगी अर्थात् अपने सतीत्व को भंग न होने देगी। पति लौट जाता है। अब उस महिला के पास स्वरक्षा का कोई साधन नहीं। वह मुग़ल से कहती है कि उसे भूख लगी है तथा वह प्यासी है। मुग़ल जब उसे भोजन तथा पानी देना चाहता है तब वह कहती है कि वह उसके हाथ का छुआ भोजन अथवा पानी कैसे उपयोग कर सकती है, क्योंकि वह हिन्दू है। अतएव उससे कहती है कि तुम एक दीपक लाओ जिससे मैं अग्नि जलाकर अपना भोजन आप बना लूँ एवम् पानी के लिये मुझे नदी के किनारे ले चलो, जहां मैं पानी पी सकूँ। मुग़ल उसे एक ज्योति दीपक ला देता है एवं नदी किनारे ले जाता है। मुग़ल अत्यन्त प्रसन्न है। वह कल्पना कर रहा है कि अब उसकी इच्छापूर्ति होगी, वह सेज सजा रहा है। दूसरी ओर धर्मपरायण महिला उस दीपक से अपने शरीर में आग लगा लेती है और जलकर भस्म हो जाती है! अन्तिम चरण में लोक-कवि कहता है कि धरती पर वह महिला जल रही थी और आकाश में चाँद जल रहा था। देखिये कितना सुन्दर प्रयोग है। अब गीत सुनिये—

"मुगलाँ ने घोड़ा पीड़िया गोरी पाणीये नूँ जा
घोड़े ते फड़के चाढ़ लई पेश न कोई जा।

जाँदया कालया कागड़िया मेरा लै सुनेहा जा
आखीं तूँ मेरड़े बाबल नूँ धी ताँ बघड़ी जा।
किथे ताँ बैठेगा बाप, किथे बैठेगा वीर
किथे बैठेगा सिरदा साईं, जिहड़ा करेगा जिओं।
बागीं ताँ बैठेगा बाप, कोठे बैठेगा वीर
महिलीं बैठेगा सिर दा साईं, जिहड़ा करेगा निआँ।
लै मुग़लाँ दे छोकरे, रुपइया बाई हजार
हत्थ बन्द कराँ बेनती, धी नूँ लवाँगा छुड़ा।
अग्ग लगे तेरी चान्दी नूँ, मोहराँ'न दिये रुढ़ा
भट्ठ पवे तेरी बेनती, सुन्दरी छोड़ी न जा।
लै मुग़लाँ दे छोकरे, रुपइये चाली हज़ार
हत्थ बन्द कराँ बेनती भैण लवाँगा छुड़ा।
अग्ग लगे तेरी चाँदी नूँ, सोना'न दिये रुढ़ा
भट्ठ पवे तेरी बेनती, सुन्दरी छोड़ी ना जा।
लै मुग़लां दे छोकरे, रुपइया पँजाह हज़ार
हत्थ बन्द कराँ बेनती, नार लवाँगा छुड़ा।
अग्ग लगे तेरी चान्दी नूँ, मोती'न दिये रुढ़ा
भट्ठ पवे तेरी बेनती, सुन्दरी छोड़ी ना जा।
जा बाबल घर आपणे, रखाँ दाढ़ी दी लाज
मुग़लाँ दा पाणी ना पियाँ, मैं प्यासी मर जाँ।
जा वीरा घर आपणे, रखाँ चीरे दी लाज,
मुग़लाँ दा अन्न ना खावाँ, भावें भुक्खी मर जां।
जा राजा घर आपणे, रक्खाँ लावाँ दी लाज
मुग़लाँ दे सेजे ना चढ़ाँ, मैं जिऊँदी मर जाँ।
जा मुगलां दे छोकरे, ठण्डा पाणी लिआ
प्यास लगी इस जीअ नूँ, मैथों सहियो ना जा।
नौकर दा भरिया ना पिआं, पीआं जमना दा नीर।
प्यास लगी इस जीअ नूँ, मैथों सहियो न जा।
मुग़ल गया पाणियें नूँ, कीता दीवे दा काज।
दीवे दी वट्टी लाके सड़ मोई, रक्खी राजे दी लाज।"

इस देश में जब सर्वप्रथम रेल आई तो वह लोक-गीतों का भी श्रृंगार बनी—

"कम्म सरकारी शुरू हो गया, पक्की सड़क बणाई।
पहिलाँ सड़क ते सिट्ट लये वाले, पिच्छो लैण टिकाई॥
देखो गड्डी आ गई लैण ते, इंजन ने सीटी बजाई।
रस्ता छोड़ द्यो हीर मजाजण आई॥"

छड़ा—पञ्जाबी लोक-साहित्य में छड़ा साहित्य अत्यधिक प्राप्त है। 'छड़ा' शब्द का अर्थ 'अकेला' है। पञ्जाब के जाटों में प्रायः विवाह कम ही होते हैं। यदि किसी घर में चार-पाँच भाई होंगे तो उनमें से अधिकाधिक दो ही विवाहित होंगे, शेष कुँवारे ही रहेंगे ! बड़े अथवा छोटे भाई के देहान्त के पश्चात् दूसरा कोई भी भाई अपनी भाभी से विवाह कर सकता है तथा अपनी भाभी एवम् भतीजों की पूर्णतया देखभाल करता है। यह रिवाज प्रायः आर्थिक विषमताओं के कारण है। पंजाब एक कृषि-प्रधान देश है। थोड़ी-थोड़ी ज़मीन ही प्रायः जाटों के पास होती है। पुत्रों में पिता की सम्पति का बँटवारा भूमि को प्रायः घटाता ही रहता है। इसका सुलभ उपाय पंजाब में जाटों ने संतति-निग्रह ही सोचा है। जब विवाह ही न होगा तो सन्तान कहाँ से होगी ! जब सन्तान न होगी तो भूमि का बँटवारा भी सम्भव नहीं है। अधिकतर जाटों को आजीवन 'छड़े' ही रहना होता है ! छड़ों के अकेलेपन के कारण उनके साथ प्रायः मज़ाक किये जाते हैं। भले ही आर्थिक परिस्थितियों के कारण उनका विवाह न हो, किन्तु उनकी काम-प्रवृत्तियों को रोकना कठिन है। अतएव उनसे बचकर रहने के लिये सहेलियाँ एक दूसरे को प्रायः कहती रहती हैं। 'छड़ों' का दयनीय दशा लोकगीतों में उभरती रहती है—

"रन्नाँ वालयाँ दे पक्कन परोंठे, ते छड़याँ दी दाल ना गले।"

—पत्नी वालों के घरों में पराँठे पक रहे हैं परन्तु छड़ों की दाल भी नहीं गल रही है।

"डरदी पीहण कोई ना जावे, छड़याँ दे दो चक्कियाँ।"

—छड़ों के भय से आटा पीसने कोई भी स्त्री नहीं जाती। यद्यपि छड़ों के घरों में दो-दो चक्कियाँ हैं।

"छिट्टा दे गई झाँझराँ वाली, छड़याँ दा दुद्ध उबले।"

—झाँझर वाली जो महिला आई, वह 'छड़ों' के काम रूपी उबलते दूध में अपने सौन्दर्य रूपी पानी का छींटा मार गई।

'छड़ों' के सम्बन्ध में अनेक लोकगीत तथा बोलियाँ प्राप्त होने के उपरान्त भी 'छड़ा' पञ्जाबी लोक-साहित्य में अकेला ही रहा। अतृप्त वासना तथा काम-प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण हैं ये लोकगीत।

लोक-नृत्य

(१) भँगड़ा

हृदय का उल्लास, अन्तरात्मा में हो रही सिहरन एवम् उन्माद का स्फुरण जब अंगों में एक विचित्र प्रकार का उन्मादित उल्लास भर देता है तो प्राणी मात्र का अंग-अंग थिरकने लगता है। वर्षा के उमड़ते-घुमड़ते कजयारे मेघ अथवा धुले आकाश में आच्छादित इन्द्र का धनुष जब समस्त भूमण्डल पर छा जाता है तब मनुष्य का तो क्या पक्षियों का भी हृदय उल्लसित हो झूम उठता है और वन-मयूर अपने पंख फैलाकर नर्तन में लीन हो जाता है। वन के पक्षी की भाँति ही जब मानव-हृदय उल्लसित होता है तब वह झूम उठता है, उसका अंग-अंग फड़कने लगता है, उसके पाँव की

अँगुलियों की पोरों में थिरकन भरती है और संगीत की स्वर-लहरी की मधुर तरंगों पर तैरता हुआ वह नृत्य-विभोर हो झूमने लगता है। पंजाब का गभरू जवान जब अपनी फसलों के पक जाने पर उन्हें लहराता हुआ देखता है तो उसका मन भी लहराती फसलों के साथ लहराने लगता है और वह अपने अन्तस के उन्मादित उल्लास को संगीत की स्वर-लहरियों द्वारा बिखेरता हुआ नृत्य में तल्लीन हो जाता है—

"मैं गभरू देस पँजाब दा, जाणे कुल जहान।
मेरे डौले मुगदर बाँगने-छाती कँग चटान॥"

—मैं पंजाब देश का नौजवान हूँ, यह समस्त संसार जानता है। मेरी भुजायें मुगदर की भाँति हैं, तथा छाती में चट्टान की मज़बूती है।

लहराती फसलें काटी जाती हैं, गेहूँ की भरी हुई बालियाँ सहस्रों दाने उगलती हैं और वह देखता है कि उसका बीजा हुआ गेहूँ का एक दाना सहस्रों में परिवर्तित हो गया है। उसका श्रम फलवान हुआ है। उसका पसीना आज अमृत बन लहलहा उठा है, तभी उसके कण्ठ से स्वर फूटता है—

"आई विसाखी, ओ जट्टा, आई विसाखी।
फसलाँ दी मुक गई राखी, ओ जट्टा, आई विसाखी॥"

—वैशाखी महापर्व आ गया है, ओ जाट, अब इन फ़सलों की रखवाली की आवश्यकता नहीं—फसलें कट गई हैं, और वैसाखी महापर्व आ गया है।

गीत के बोल के साथ-साथ ही ढोल पर थाप पड़ती है और जन-समूह अपने कन्धे हिलाने लगता है। पाँव यन्त्र-चलित से उठते हैं। कमर लचकने लगती है। हाथों का परिचालन और बाजुओं की थिरकनें भँगड़े में परिवर्तित हो जाती हैं। विभिन्न मुखों से विभिन्न प्रकार के बोल फूटते हैं—परन्तु एक ताल, एक स्वर—"अड़ी बा होऽ—अड़ी बा होऽऽ"। "बल्ले-बल्ले—बल्ले-बल्ले"। "ताक् धिना धिन धा,—ताक् धिना धिन-धा"। किसी के हाथ में लठिया 'खूण्डी' जो कानों को छूती है, दोनों हाथों में आकर नृत्य करती है, किसी के हाथ का इकतारा स्वर भरता है। किसी के हाथ की 'काटो' अपना नृत्य सँवारती है और किसी के बिम्बाधरों पर जमी हुई वँझली स्वर साधना लीन हो जाती है।

'भँगड़ा' पंजाब का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवम् सर्वत्र प्रशंसित लोक-नृत्य है। लगभग पंद्रह-सोलह नवयुवक अपने सिरों पर, तुर्रेदार जट की रंगबिरंगी पगड़ियाँ बाँधकर उसका पल्लू अपने दाहिने अथवा बायें कान के समीप छोड़ते हैं। लम्बा कुर्ता एवम् चमकदार वास्कट के ऊपर गले में सुनहरी कण्ठा फबता है। कमर में झाँगी तहमद बाँध ली जाती है और पाँव की तिल्लेदार पञ्जाबी जूती अपनी आभा बिखेरती है। हाथों में किसी के लठिया, किसी के हाथ में काटो, किसी के हाथ में वँझली, किसी के हाथ में घुँघरुओं वाला चिमटा होता है। यदि किसी के हाथ में अन्य कुछ नहीं तो तालियों द्वारा ताल का परिचालन तो अवश्य है ही। मध्य में एक व्यक्ति ढोल बजाता हुआ शेष भँगड़ा-नर्तकों को एक ताल में बाँधे रखता है। प्रत्येक व्यक्ति की मुद्रायें भिन्न

होती हैं, प्रत्येक व्यक्ति मध्य में विभिन्न अवसरों पर आकर अपना भँगड़ा दिखाता है, कभी दो पैर एक दूसरे में फँसकर चक्रबद्ध होते हैं, कभी तीन और कभी चार। एक व्यक्ति के घुटने पर दूसरे व्यक्ति का घुटना, उसपर बालक भँगड़ा-नर्तक चढ़ जाता है और मुक्त हो अपना भँगड़ा-नर्तन देता है, कभी-कभी एक व्यक्ति मिट्टी के घड़े को उलटकर अपने सिर पर रख लेता है, उसपर दूसरा व्यक्ति चढ़ जाता है और अपना भँगड़ा प्रदर्शित करता है। ढोलक की थाप ज्यों-ज्यों तीव्र गतिमय होती है, त्यों-त्यों भँगड़ा-नर्तकों के पाँव, बाजू, हाथ एवम् लय भी गतिशील होते हैं। जिस समय भँगड़ा अपनी तीव्रतम गति में उभरता एवं निखरता है उस समय तो दर्शकगण को भी अपने अंगों का परिचालन करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। किसी के पाँव उठते हैं, किसी के बाजू फड़कते हैं, किसी के हाथ ताल का साथ देते हैं, किसी की गर्दन हिलने लगती है और नर्तकों के साथ-साथ दर्शक भी बरबस अन्तर-नर्तकों में परिवर्तित हो जाते हैं। पंजाब का यह भंगड़ा लोक-नृत्य निश्चय ही विदेशी 'रोक-एन-रॉल' से भी अधिक गतिमय एवम् भावनाओं को उद्वेलित करने वाला है। पैप्सू की भँगड़ा पार्टी के श्री दीपक एवम् फोकलोर-अकादेमी परिचालित पञ्जदरया भँगड़ा पार्टी के श्री अनोख सिंह इस समय प्रमुख भंगड़ा-नर्तकों में हैं।

(२) झूमर

भँगड़ा से मिलता-जुलता दूसरा नृत्य 'झूमर' है, जिसमें भँगड़े की भांति ही नवयुवक आदि झूमर-नृत्य करते हैं। इसमें ढोल की थाप शुद्ध 'धीन-ता—धीन-ता' की ध्वनि देती है। विभिन्न मुद्राओं, विभिन्न हाव-भाव होने के उपरान्त भी इस 'झूमर' में एक अपनी ही विशेषता है, जिसपर राजस्थानी 'झूमर' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'झूमर' के गीत भी भिन्न ही होते हैं एवम् उनके गाने की शैली भी भिन्न होती है। "ता-धिन-धा-धा—ता धिन-धा-धा" पर झूमर अत्यन्त ही तीव्र चलता है तथा हृदयग्राही बन जाता है।

(३) लुड्डी, घुमाल और घुमाकड़ा

झूमर के अतिरिक्त पुरुषों के नृत्यों में अन्य विशेष हैं 'लुड्डी', 'घुमाल' तथा 'घुमाकड़ा' जिनमें भँगड़े की भाँति ही समूहबद्ध हो गोलाकार घेरे में ढोलवाले को लय में बाँधे रखने के लिये संयुक्त होकर नृत्य किये जाते हैं। प्रायः प्रत्येक नृत्य के साथ एक ही प्रकार के साज होते हैं। ढोल पर "धिन धिना धिन-ता—धिन धिना धिन-ता" अथवा "धिन-धिन-धिन्ना—धिन-धिन-धिन्ना" की ताल उपर्युक्त लोक-नृत्यों को गति प्रदान करती है। इनकी शैली भी समान ही होती है। अंतर प्रायः गीत का होता है, जो नृत्य का साथ देता है। गीतों अथवा ताल के द्वारा ही विभिन्न नृत्यों का वर्गीकरण होता है।

(४) टिपरी

इन सभी नृत्यों से भिन्न किन्तु लोक-नृत्यों में एक अन्य नृत्य 'टिपरी' कहलाता है, जिसमें लकड़ी की छोटी-छोटी डंडियों को ताल एवम् स्वरमय एक गोलाकार घेरे में नृत्य करते हुये विभिन्न प्रकार के हाव-भाव देकर बजाया जाता है तथा नृत्य किया जाता है। इस टिपरी नृत्य में गीत प्रायः नहीं गाये जाते वरन् मौन रहते हुये ही नृत्य किया

जाता है। केवल ढोल के ऊपर बेंत की छड़ी का परिचालन एवं छोटी डंडियों का स्वर ही ताल एवं लय का सम्पूर्ण कार्य करता है। 'टिपरी' नृत्य के ऊपर बृज के 'रास' का विशेष प्रभाव है।

(५) होली

प्रागऐतिहासिक काल के विभिन्न प्रकार के नृत्यों में 'होली' नृत्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसमें एक व्यक्ति अपने मुँह पर घोड़े का शरीर पहिन कर हरिण का शिकार करने जाता है। मार्ग में उसे हिरण के स्थान पर बाघ मिलता है। वह नृत्य करता हुआ ही बाघ से लड़ता है, उसे मारता है और अपनी विजय पर उन्मत्त एवं उल्लसित होकर होली-नृत्य करता है, यह मूक नृत्य निश्चय ही सर्वाधिक पुरातन प्रतीत होता है।

(६) महिला-नृत्य—गिद्धा, किकली

स्त्रियों के नृत्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध गिद्धा है, जिसमें ढोलक पर हाथों का परिचालन एवम् तालियों द्वारा ताल तथा लय को साधा जाता है। श्रावणी तृतीया के दिन वर्षा की उन्मादिनी ऋतु महिलाओं में एक विचित्र स्फुरण भर देती है। वृक्षों की डालियों पर रंग-बिरंगी रस्सियों के झूले पड़ जाते हैं; गीत के स्वर फूटते हैं और झूले की हिलोर में उन्मादित नारी-समाज तालियों पर ताल साधता हुआ नृत्यविभोर हो जाता है। लम्बे कुर्ते तथा घाघरे पर फबने वाली लाल, पीली, हरी चुनरियें हवा में लहराती हैं। गोलाकार घेरा तालियों की ताल से गूँज उठता है। मध्य में ढोलक पर कोई मधुर स्वर में गीत का स्वर भरता है और कंकर उस ढोलक की थाप को बल देता है। जब भी गीत की कड़ी समाप्त होती है तो गिद्धा तीव्र हो जाता है। 'किकली' लड़कियों का अन्य नृत्य है, जिसमें दो लड़कियाँ एक दूसरे के हाथ में हाथ डालकर अपने पैरों को एकसूत्र कर, गोलाकार ही नृत्य करती हैं। यह नृत्य प्रायः छोटी बालिकाओं द्वारा किया जाता है तथा बालसुलभ गीत भी गाये जाते हैं।

लोक-कला

१—फुलकारी

पंजाब की लोक-कला में सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु 'फुलकारी' है! यह 'फुलकारी' सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। लाल रंग के खद्दर अथवा रेशमी कपड़े पर रेशमी धागों की कढ़ाई की जाती है। इन धागों द्वारा लाल, नीले, पीले, हरे तथा श्वेत रंगों के सम्मिश्रण से प्रायः मोर, मुर्गी, कबूतर, चौपड़, सांतिया अथवा गणेश, चौखाने अथवा त्रिकोण आदि बनाये जाते हैं। दुलहिन के महीन मलमल अथवा किसी अन्य महीन कपड़े के दुपट्टे पर जब फुलकारी ओढ़ा दी जाती है तब ही दुलहिन अपने पिया के घर जा पाती है। फुलकारी की कढ़ाई प्रायः दुलहिन को ही करनी पड़ती है। विभिन्न जिलों में विभिन्न प्रकार की फुलकारियां प्रचलित हैं। आधुनिक युग ने भले ही फुलकारी का प्रचलन घटा दिया है, परन्तु विवाह में बिदाई के अवसर पर तथा गृहप्रवेश पर दुलहिन के लिये फुलकारी में मण्डित होना परमावश्यक है।

२—बाग

फुलकारी से मिलती-जुलती दूसरी वस्तु बाग है, जिसमें फुलाकरी की भांति ही कढ़ाई की जाती है। बाग में विभिन्न रंगों का सम्मिश्रण तथा विभिन्न आकृतियों की कढ़ाई में ही विशेषता है। मोर, तीतर, मुर्गी, कबूतर, हिरण, शेर, हाथी आदि पशु-पक्षी एवं फूल-पत्ती, तथा बेलों में चौकोर अथवा त्रिकोण डब्बियां काढ़ी जाती हैं। कढ़ाई की और भी विभिन्न वस्तुयें हैं जिनपर आधुनिक युग का प्रभाव पड़ने से लोक-कला शैली प्रायः लुप्त ही हो गई है।

३—सांझी

कार्तिक के नवरात्र में अर्थात् श्राद्ध पक्ष के पश्चात् एवं दशहरे के पूर्व प्रायः प्रत्येक घर में दीवाल पर सांझी मांडी जाती है। एक दीवाल के लगभग ४"×६" टुकड़े को गोबर से लीप कर उसपर सांझी देवी की आकृति गोबर तथा मिट्टी द्वारा बनाई जाती है। सांझी गोबर के ही बने आभूषण पहिनती है जिन पर कागज की पन्नी आदि मढ़कर उन्हें सोने का बना दिया जाता है। चँदउआ, सूरज, सूरजमुखी, कल-जोगनें तथा इसी प्रकार की विभिन्न वस्तुयें सांझी में मांडी जाती हैं।

४—होई

दीवाली से लगभग ६–७ दिन पूर्व अष्टमी के दिन प्रत्येक घर में दीवार को सफेद चूने से पोतकर घर की बड़ी दुलहिन अथवा कन्या 'होई' माता का मांडना विभिन्न रंगों से मांडती है। 'होई' माता को बच्चों का रक्षक माना जाता है। इस मांडने में प्रायः लाल, पीला, नीला, हरा तथा काला रंग उपयोग में लाया जाता है। चांद, सूरज, चक्र, पालकी, हरिण, दुलहिन तथा कलजोगनें आदि इस होई में मांडी जाती हैं।

५—दीवाबाटी

दीवाली पर एक तीनमंज़िला महल बनाया जाता है, जिसपर हरी, पीली, लाल, नीली झण्डियां लगाई जाती हैं। इस महल में दीये जलाये जाते हैं तथा रोशनी की जाती है। असल में यह महल भगवान् राम के अयोध्या-प्रवेश का प्रतीक है। इस महल के चारों ओर दीपमाला सँजोई जाती है तथा इसके अन्दर भी दीपक सँजोये जाते हैं।

६—मौजे

पंजाब की सलमें सितारों से जड़ी जूतियों की अपनी ही आभा है। इन जूतियों पर भी विभिन्न आकृतियां बनाई जाती हैं, जो अपनी ही विशेषता रखती हैं। इन जूतियों को पंजाब में 'मौजे' कहते हैं।

पंजाब में लोक-कला सम्बन्धी यों तो और भी विभिन्न वस्तुयें हैं, किन्तु विस्तार से यहां उनका वर्णन करना अनुपयुक्त ही होगा।

लोक-नाट्य

(१) स्वांग

पंजाब के लोक-नाटकों का प्रारम्भिक रूप रामलीला से प्रारम्भ होता है। महाकवि कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल आज भी पंजाब के भाटों तथा रास-

धारियों में अत्यधिक प्रचलित है। इसी प्रकार पंजाब के 'स्वांगों' की परम्परा नवीं शताब्दी से पहले की है, जिसका उल्लेख सिद्ध कन्हैया ने किया है। पंजाब के डोम-डोमिनी आज भी जब स्वांग रचते हैं तथा अपना व्यंग्यात्मक अभिनय करते हैं तो पंजाब का लोक झूम उठता है। पंजाब के जिला रोहतक में स्वांगों का अभी भी प्रचलन है। वहां के प्रसिद्ध स्वांगकार श्री दीपचन्द की शिष्य-मंडली अत्यधिक प्रसिद्ध स्वांगों में रूप-बसन्त, हीर-रांझा, सस्सी-पुन्नू, सोहनी-महींवाल, ढोलामारू. गोपीचन्द, भरथरी, पूर्ण-भगत, लैला-मजनू तथा दुल्ला-भट्टी आदि हैं। मानसिंह तथा उनके शिष्य झण्डू का रूप-बसन्त आज भी लोक में आदर की वस्तु बना हुआ है।

(२) भाट-परम्परा

पंजाब के भाटों की परम्परा लोक-नाटकों की दूसरी शैली है, जिसमें छन्दात्मक वार्तालाप द्वारा एक खुले मञ्च पर अभिनय किया जाता है। दो या तीन पात्र ही विभिन्न व्यक्तियों का अभिनय कर लेते हैं। इस शैली में अधिकतर धार्मिक अथवा ऐतिहासिक महापुरुषों का जीवन-चरित्र ही खेला जाता है, जिनमें विशेष हैं—राम, कृष्ण, विक्रम, शिवाजी, महाराणा प्रताप तथा गोविन्द आदि। भट्टों की यह परम्परा ईस्वी सन् १८०७ से श्री काशीराम से प्रारम्भ होती है।

(३) नकलिये

नकलियों की परम्परा कुछ कम पुरानी नहीं है। आज भी जब मुसलमान मिरासी ढोलक, हारमोनियम तथा तबले आदि पर हीर-राँझा, कीमा, मल्का, सस्सी-पुन्नू सोहनी-महींवाल, दुल्ला-भट्टी, गोपीचन्द, भरथरी तथा पूर्ण आदि की नकल करते हैं तो पंजाब का लोक उल्लसित हो उठता है। नकलों का चहेता दर्शक डडहेड़ी के साइयाँ, लाहौरी तथा मोल गिवारा के निक्का, मिरासी तथा उनकी शिष्य मण्डली को सुनने के लिए कई मीलों का सफर करके नकल देखने पहुँच जाता है।

(४) रासधारियों

रासधारियों की परम्परा सन् १८२५ से आरम्भ होती है, जिसपर राजस्थानी तथा ब्रज की संस्कृति का विशेष प्रभाव है। रूप-बसन्त, पूर्णभगत, लैला-मजनू तथा हरिश्चन्द्र आदि इनके मुख्य नाटक हैं। सिधवा के मिरासी घग्घड़, दोआबा मलसिया तथा शामचौरासी के मिरासी जब नक्कारा, नक्कारी, सारंगी, हारमोनियम तथा ढोलक पर अपनी विशेष शैली, छन्दात्मक बोली में ग़ज़ल तथा गीतों की धुनें बखेरते हैं तो श्रोतागण उल्लासपूरित हो उठते हैं।

(५) चबोले

लोक-नाटकों का अन्य रूप चबोले हैं, जो पद्यात्मक वार्तालाप के रूप में हैं। इनमें अधिकतर चतुष्पदियों का ही उपयोग होता है। वर्तमान आपेरा इन्हीं 'चबोलों' का संशोधित रूप प्रतीत होता है। पूर्ण भगत, रूप-बसन्त, हकीकत राय तथा राजा रसालू आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। माडीवाड़े का ग़फूर मिरासी तथा मोरिंडा का शरीफ मिरासी अत्यधिक प्रसिद्ध चबोलाकार हैं।

(६) जलसे

जलसों की परम्परा भी १८वीं शताब्दी की है, जिसमें बोलियों द्वारा नाटक के रूपक को बांधा जाता है। इसमें अभिनय को कम किन्तु बोलियों को प्रधानता दी जाती है। ढोलक, चिमटा, खंजड़ी, छैने, खड़ताल तथा घुँघरु आदि का उपयोग होता है। हीर-रांझा, सोहनी-महींवाल तथा मिर्जा-साहिबां आदि को यह लोग लोक-बोलियों के आधार पर ही खेलते हैं।

(७) ख्यूड़े

१८६२ ई० से १९१४ ई० तक ख्यूड़े नामक लोक-नाटक अत्यधिक प्रचलित था, जिसका मंच भी विचित्र ही था। विवाह के अवसर पर अलग-अलग मकानों की छतों पर बैठकर सीढ़ियों द्वारा अभिनेता आंगन रूपी मंच पर आते थे तथा वार्तालाप करते थे। यह वार्तालाप अधिकतर पद्यात्मक ही होते थे। लाहौर की झण्डीं-चंगड़ी तथा कर्मा, नामिक, मंगनें, अमृतसर का बीरू नामक धोबी तथा उसका शिष्य हुसेन बख्श अत्यधिक प्रसिद्ध बुलारे थे। अब यह ख्यूड़े प्रायः देखने में कहीं नहीं आते। अभी भी मुहर्रम के मौके पर मरसीये आदि गाये जाते हैं तथा कर्बला का सम्पूर्ण दृश्य प्रस्तुत किया जाता है। मुहर्रम के जुलूस पर पौराणिक रथ-यात्रा का अत्यधिक प्रभाव प्रतीत होता है, जो निश्चय ही खोज का विषय है। लोक-साहित्य की खोज, लोक-साहित्य-संग्रह एवं उसका अन्वेषण-पर्यवेक्षण, काल-निर्णय आदि विषद् विषय हैं, जो किसी एक लेखक अथवा संस्था के लिये न केवल कठिन वरन् असम्भव भी हैं। जबतक विद्वानों का सामूहिक प्रयत्न एवं शासन की सहायता प्राप्त न हो तबतक इस लोक-साहित्य को जन-जन के लिए हितकर बनाना एवं उसका आधुनिकीकरण करके देश, राष्ट्र तथा समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। हम शासन से एवं विद्वानों से कामना करते हैं कि वे इस दिशा में प्रयत्नशील हों एवं प्रवाहवान् बनाने के लिए एकरस हो जुट जायें, जिससे अतीत का सम्बन्ध वर्तमान एवं भविष्य से स्थायी तथा अटूट होकर विश्व के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो।

—

चम्बा (हिमाचल प्रदेश) के लोक-साहित्य तथा लोक-नाट्य पर एक विहंगम दृष्टि

हरिप्रसाद "सुमन"

जिला चम्बा हिमाचल के रम्य आंचल में डलहौजी से संलग्न रावी नदी की सुन्दर मनोरम उपत्यका में बसा हुआ एक सुविस्तृत भूभाग है। इसके उत्तर में जम्मू-काश्मीर, दक्षिण में पंजाब का जिला कांगड़ा, पूर्व में बारह भंगाल तथा पश्चिम में गुरदासपुर, पठानकोट आदि पंजाब के नगर हैं। यह हिमाचल प्रदेश का प्रमुख जिला है, जिसकी जनसंख्या १,८०,००० (एक लाख अस्सी हजार) तथा क्षेत्रफल ३२१६ वर्गमील है। समस्त जिला पांच तहसीलों में विभक्त है, जिनके नाम हैं—तहसील चम्बा, तहसील भरमौर, तहसील भटियात, तहसील चुराह, और तहसील पांगी। प्रत्येक तहसील की अपनी भाषा और वेशभूषा है, जैसे—भरमौर की भरमौरी, चुराह की चुराही, व पांगी की पंगवाली और चम्बा की चम्याली।

रियासतों के विलयन से पूर्व, चम्बा पंजाब प्रान्त की पहाड़ी रियासतों में एक प्राचीन रियासत थी, जिस पर छठी शताब्दी से अब तक सूर्यवंशी राजाओं का एक ही वंश शासन करता रहा है। पंजाब के जिला कांगड़ा, हरिपुर, नूरपूर, जम्मू-काश्मीर, बसोहली, भद्रवाह आदि क्षेत्रों के साथ न केवल चम्बा का गहरा सम्पर्क रहा है अपितु ये क्षेत्र सदियों तक एक दूसरे के आधीन भी रहे हैं।

यही कारण है कि इन प्रदेशों की ललितकलाओं का परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहा है। काश्मीर की कशीदाकारी, बसोहली तथा कांगड़ा की पहाड़ी कलम के चित्र तथा चित्रकार, स्थापत्य कला के उत्कृष्ट आदर्श, भव्य देव-मन्दिर तथा काष्ठ-शिल्प के अनेक कुशल शिल्पी चम्बा में उत्पन्न हुए, जिनके कारण चम्बा का नाम आज भी भारत के कोने-कोने में सुविख्यात है। यहां के हाथ से बने चित्र तथा कशीदे के रुमाल भारत में ही नहीं यूरोप तक में प्रसिद्ध रहे हैं और पर्याप्त मूल्य में बिकते रहे हैं। भारतीय चित्रकला में पहाड़ी शैली का विशेष स्थान है और चम्बा के कलाकारों ने इसे अपना कर इस कला के विकास तथा उत्थान में पर्याप्त योगदान किया है।

ललितकलाओं की भाँति चम्बा लोक-साहित्य के लिये भी अत्यन्त समृद्ध रहा है। लोकगीतों, गाथाओं, पहेलियों, लोकोक्तियों आदि का यहाँ इतना भण्डार है कि अनेक वर्षों तक शोध कार्य करते रहने पर भी समाप्त न हो सके।

भारत के बंगाल, पंजाब, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों की तरह यहाँ के लोकगीत भी बड़े ही मार्मिक, आकर्षक एवं हृदयग्राही हैं। इनमें कहीं मिलन तथा विरह के सजीव वर्णन हैं तो कहीं राम, शिव, कृष्ण की लीलाओं के अद्भुत, पावन धार्मिक प्रसंग मिलते हैं, जिनमें देवों को भी मानवीय तत्वों तथा भावों से अनुरंजित किया गया है। हिमाचल प्रदेश जहाँ भौतिक रूप में रत्नाकर के नाम से विख्यात है वहीं बौद्धिक रूप से महर्षि व्यास, जमदग्नि, माण्डव्य, कपिल आदि की तपोभूमि तथा सांस्कृतिक रूप में फुलमू-रांझू, मूंकू और सुन्नी, चंचलो व कूंजू के अमर प्रणय की क्रीड़ा-भूमि भी रहा है। निर्व्याज प्रणय की पावन त्रिवेणी यहाँ के लोकगीतों में प्रवाहित होती रही है।

शब्दों की कला लोक-वार्ता से ही तो आरम्भ होती है। जन-साधारण की आशाओं तथा आकांक्षाओं की नैसर्गिक झांकी हम लोक-साहित्य के माध्यम से ही देख सकते हैं। किन्तु खेद का विषय है कि सदियों की पराधीनता, उचित प्रोत्साहन तथा साहित्यिक जागृति के अभाव से लोक-साहित्य के संग्रह की ओर अब तक न तो कोई कदम सरकार की ओर से उठाया गया और न जनता की ओर से ही इसके संकलन तथा प्रकाश में लाने का कोई सामूहिक प्रयत्न किया गया।

ईसाई धर्म के प्रचारक डाक्टर हाचिन्सन ने चम्ब्याली लोक-साहित्य का न केवल अध्ययन ही किया अपितु उन्हों ने इसका प्रकाशन भी करवाया। उन्हों ने स्यालकोट (पाकिस्तान) में चम्ब्याली लिपि 'टाकरी' का टाईप तैयार करवाकर प्रेस भी चालू किया और 'मंगल समाचार' नाम से अपनी प्रचार पुस्तिकाएं प्रकाशित करवाई। इन पुस्तकों की भाषा चम्ब्याली तथा लिपि 'टाकरी' थी, जो उन दिनों चम्बा में पर्याप्त रूप में प्रचलित थी।

'चम्ब्याली री पहली पोथी', तथा 'चम्ब्याली री दुई पोथी' नाम से उर्दू लिपि तथा चम्याली भाषा में दो पुस्तकें उन्हों ने और प्रकाशित करवाई। इनमें कुछ चम्याली की प्रचलित लोक-कथाएँ थीं तथा कुछ उनकी अपनी रचनाएँ थीं। ये पुस्तकें सम्भवतः उन्हों ने अपने प्रचारकों को चम्याली भाषा सिखाने के उद्देश्य से प्रकाशित करवाई होंगी। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी पुस्तक आज सुलभ नहीं है। तत्कालीन कतिपय वृद्ध सज्जनों से पूछने पर यह भी ज्ञात हुआ कि उक्त डाक्टर महोदय ने चम्बा के लोकगीतों पर भी एक पुस्तक प्रकाशित करवाई थी, किन्तु बहुत खोज करने पर भी आज उसका पता नहीं चलता।

सौभाग्यवश चम्बा अपनी प्राकृतिक सुषमा तथा शिकार व मेलों के कारण आरंभ से ही पर्यटकों का आकर्षण-केन्द्र रहा है। अतः बाहर के अनेक यात्री समय-समय पर आकर यहाँ के लोकगीतों को लिपिबद्ध करते रहे। 'हिज़ मास्टर्स वॉयस'

नामक रेकार्ड कम्पनी ने कुछ स्थानीय गायकों से यहाँ के गीतों के रेकार्ड भरवा कर लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया।

लोक-साहित्य के विद्वान् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने सम्भवतः प्रथम बार अपने लेखों तथा पुस्तकों में चम्बा के लोकगीतों तथा कथाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला। उनकी पुस्तक 'क्या गोरी क्या साँवरी' में 'चम्बा याद रहेगा' शीर्षक का एक अध्याय चम्बा तथा उसके लोक-साहित्य की उत्कृष्टता का प्रबल प्रमाण है। उनकी अन्य पुस्तकों तथा लेखों में भी चम्बा के अनेक लोकगीत बिखरे पड़े हैं।

सन् १९३४–३६ के बीच में चम्बा के सुलेखक श्री दौलतराम गुप्त ने इलाहाबाद से प्रकाशित 'कर्मयोगी' तथा 'गुलदस्ता' में 'हिमतरङ्ग' शीर्षक से चम्बा के कुछ लोक-गीतों को टिप्पणीसहित प्रकाशित करवाया। देहली से प्रकाशित उर्दू साप्ताहिक 'रियासत' में भी उनके लेख यहाँ के लोकगीतों के सम्बन्ध में प्रकाशित होते रहे।

अप्रैल १९५३ में देहली से भारत सरकार की ओर से प्रकाशित 'आजकल' में 'चम्बा गाता है' नाम से मेरा प्रथम लेख चम्बा के लोकगीतों के विषय में प्रकाशित हुआ। इसमें मेरे दो गीत और उनपर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी थीं।

जून १९५४ में महापंडित राहुल सांकृत्यायन चम्बा पधारे। उनसे भेंट करने पर जब लोक-साहित्य का महत्त्व ज्ञात हुआ तो मैंने मन ही मन इस विषय को अपनी लेखनी का विषय बनाने का निश्चय कर लिया। उन्हों ने अपनी मधुर व्यंग्यमिश्रित वाणी से झिड़कते हुए कहा 'तुम्हारे चम्बा में इतना लोक-साहित्य बिखरा पड़ा है और तुम उसे छोड़कर हिन्दी के पीछे पड़े हो। संकल्प करो कि जब तक एक हजार लोकगीत तथा २०० लोक-कथाओं का संग्रह न कर लूँगा तब तक चैन से न बैठूँगा। इसके पश्चात्, लोक-साहित्य का संग्रह मेरे जीवन का कार्य बन गया। 'वीर अर्जुन', 'सहयोग', 'हिमप्रस्थ' 'योजना', 'आजकल' आदि अनेक पत्रों में मेरे लेख लोकगीतों पर प्रकाशित हो चुके हैं। 'गल्लां होई बीतियां' नाम से लोकगीत व लोकगाथा पर आश्रित एक नाटक भी मैंने प्रकाशित करवाया है।

चम्ब्याली लोक-साहित्य न केवल लोकगीतों तक सीमित है अपितु लोक-कथाओं, मुहाविरों, लोकोक्तियों, पहेलियों—सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। किन्तु इनके संग्रह का कार्य अत्यन्त दुष्कर है। जिनके पास गीत हैं वे या तो बतायेंगे नहीं और किसी ने बताने की कृपा कर दी तो कुछ बोल इधर के और कुछ उधर के होते हैं, जिन्हें सन्तुलित करने के लिये कठिन श्रम की आवश्यकता होती है।

चम्बा का लोक-जीवन बहुत ही सरल तथा सादा है। गीत, वाद्य तथा नृत्य की त्रिवेणी यहाँ सदैव प्रवाहित होती है। हरे-भरे जंगलों में ढोर चराते समय, घास काटते समय, खेतों में काम करते समय, घरों में चर्खा कातते समय, सदैव लोकगीत होते रहते हैं। मेलों और यात्राओं के अवसर पर जिस सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन यहाँ के लोग तन्मय होकर करते हैं, उसे देखकर दर्शक मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। गण-राज्य-दिवस पर चम्बा की चुराह तहसील की महिलाओं ने जब संगीत-नाटक-अकादमी द्वारा आयोजित

नृत्य की प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया तो देश भर का ध्यान चम्बा के लोक-नृत्य की ओर आकर्षित हो उठा।

अन्य प्रान्तों के लोकगीतों की भाँति चम्बा के गीतों में भी यहाँ के लोक-जीवन के सजीव दर्शन होते हैं। इनमें कहीं प्रेम के मिलन तथा विरह के चित्र हैं तो कहीं ममता और मोह के; कहीं यहाँ के मनोहर प्राकृतिक स्थलों की सुषमा का मनोरम वर्णन मिलता तो कहीं रामायण, महाभारत तथा शिवजी के धार्मिक प्रसंग। कुछ पँवाड़े तो इतने लम्बे हैं कि लगातार तीन-तीन रात तक चलते रहते हैं। कुछ प्रणय-गीतों की झलक देखिये—

कोई नारी यौवन के प्रति कितनी ममता रखती है—

"फुल्लडू फुलन्दे वारो वार, जोबन फुलन्दा इक्कोई वार"

अर्थात् फूल तो बारबार फूलते हैं, किन्तु यौवन एक ही बार फूलता है (आता है), बार-बार नहीं। एक अन्य गीत में प्रेमिका प्रेमी से कितनी व्यंग्य करती है—

"तेरा मन डिभरू रा पाणी कैम्हला ला।
मेरा मन नदियाँ वगोरा भला है॥"

अर्थात् तेरा हृदय पोखर के जल की तरह संकुचित है, किन्तु मेरा हृदय नदी के प्रवाह की तरह शुद्ध एवं निर्मल है। एक अन्य गीत में कोई विरहिणी वृक्ष के सहारे खड़ी है, जिसे देखकर कोई मन चला पूछता है कि तू यहाँ क्यों खड़ी है? क्या तेरा पीहर दूर है? अथवा घर पर सास से लड़ाई हो गई है? तब वह उत्तर देती है—

"न मेरा पेइया दूर, न घर सास लड़ी।
पिया गये परदेश विजोगन बन के खड़ी॥"

एक अन्य गीत में नारी के हृदय में छिपा करुणा कितने सुन्दर शब्दों में उमड़ पड़ती है। घात में बैठे शिकारी को मना करते हुए वह कह उठती है—

"पठरा बठोरेया भाऊआ शिकारिया।
इसा हरणी जो मत मारे हो॥
इसा हरणी रे मांस नी खाणे।
ए हरणी पेटा भारी हो॥"

अर्थात् घात में बैठे शिकारी भैया! इस हिरनी को मत मारो। यह तो बेचारी गर्भवती है। और गर्भवती को मारना या उसका मांस खाना तो महापाप है। एक अन्य गीत में मेघों से प्रार्थना की गई है—

"गुड़के चमके भाऊआ मेघा हो।
राणी लम्याली रे देशा हो॥
किह्याँ गुड़कों किह्याँ चमकों हो।
हो अम्बर भरोरा तारे हो॥
सोईंगे चन्द्र ते सूरज हो।
हो सोईंगे नौलख तारे हो॥

कुथुए री आई काली बादली हो।
हो कुरथुए रा बरसेया मेघा हो॥
छाती री आई काली बादली हो।
नैणा रा बरसेया मेघा हो॥"

हे मेघ भैया! हमारे चम्बा देश पर गरजो, चमको तथा बरसो। किन्तु तारों से भरे आकाश में गर्जना तथा बरसना कैसे सम्भव हो सकता है? अतः कहा गया है चाँद, सूरज तथा तारे सो गये हैं। हृदय से विरह रूपी बदली उमड़ी और आखों से वर्षा बनकर झड़ी लग गई। एक धार्मिक गीत में पार्वती भगवान् शंकर से प्रार्थना करती है—

"तुसी जे चले स्वामी पृथि रे फेरे, मूं घरे केहली किआं रैहणा जी!"

अर्थात् हे स्वामी! आप तो पृथ्वी की परिक्रमा करने जा रहे हैं, किन्तु मैं घर पर अकेली कैसे रहूँगी? यहाँ पार्वती को देवी रूप में नहीं, अपितु मानवी (नारी) के रूप में देखा गया है। इसीलिए शंकर को अपने अंगों की मैल से मूर्ति बनानी पड़ती है। फिर उसे जीवन प्रदान कर पार्वती के लिए रक्षक रूप में छोड़ना पड़ता है।

सूरदास एवं नन्ददास की भाँति चम्बा के लोकगीतों में भ्रमर-गीत प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं, जिनमें नायक को भ्रमर के रूप से सम्बोधित किया जाता है। एक गीत सुनिये—

"धरती वी जागी अकाश भी जागेया, होई गेई रैन भियाग कान्हा भौंरड़ेया।"

इसमें 'कान्हा भौंरड़ेया' शब्द का अर्थ भ्रमर रूपी कृष्ण है।

लोकगीतों की तरह लोक-नृत्यों की भी अपनी परम्परा है। चम्बा के लोक-नृत्यों को मुख्यतया चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नाटी, (२) धुरेही, (३) फराटी, (४) नाच या डंडारस।

(१) नाटी—पुरुषों के उस लोक-नृत्य को नाटी कहते हैं जो नृत्य की वेश-भूषा में सुसज्जित होकर, नृत्य की विशेष मुद्राओं में, स्वर, ताल तथा लय के साथ किया जाता है। नर्तकों की वेश-भूषा भी बड़ी आकर्षक होती है। सफेद ऊनी चोला, जिसके निचले भाग में बीसियों सिलवटें पड़ी रहती हैं, कमर पर रस्से की तरह काला ऊनी डोरा, गले में रंगीन मफलर या दुपट्टा, सिर पर लम्बा ऊनी टोप, जिसपर पहाड़ी पक्षियों के चमकते परों की कलगी होती है। टाँगें या तो नंगी या तंग चूड़ीदार पाजामें से ढकी रहती हैं।

(२) धुरेही—यह स्त्रियों का प्रसिद्ध नृत्य है। इसमें गीत तथा नृत्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। यह नृत्य दो प्रकार से होता है। या तो आमने-सामने नर्तकियों के दो दल बन जाते हैं या यह नृत्य वृत्ताकार मंडल में चलता है। इस नृत्य में पाँव से लेकर सिर तक के सभी अंगों तथा उसकी वेश-भूषा का वर्णन गीतों में आता है। नर्तकियाँ अपने हाथों, आँखों के द्वारा भावभंगियों की ओर संकेत करती जाती हैं। नाटी में लोक-वाद्यों की प्रधानता रहती है, गीतों की नहीं; किन्तु धुरेही में गीतों की प्रधानता होती है, वाद्यों की नहीं।

नाटी तथा धुरेही विशेष नृत्य हैं। इनका प्रदर्शन बड़े-बड़े मेलों तथा यात्राओं के अवसर पर ही होता है और प्रशिक्षित नर्तक-नर्तकियां ही इसमें भाग ले सकती हैं। किन्तु

फराटी तथा डंडारस साधारण नृत्य हैं। इनमें सभी भाग ले सकते हैं। ये प्रायः १६ संस्कारों के अवसर पर, घास काटने के दिन, मकान के लिए जंगल से लकड़ी लाने के दिन या अन्य किसी भी हर्षोल्लास के अवसर पर किए जाते हैं।

चम्बा की नृत्य परम्परा को सुरक्षित रखने का श्रेय यहाँ के गद्दी, चुराही तथा पंगवाले आदिवासियों को प्राप्त है। सदियों तक उपेक्षित रहने पर भी इन्हों ने अपनी इस सांस्कृतिक थाती को सुरक्षित रूप में संजोय रखा है! लोक-साहित्य का प्रत्येक प्रेमी उनके इस संरक्षण के लिए सदैव ऋणी रहेगा।

लोक-नाट्य-कला भी यहाँ विकसित रूप में प्राप्त होती है। इसे मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) हरिण या हरणात्र (२) भगत या रास और (३) झांकी। ग्रामों में हरणात्र या भगत का ही प्रचलन है। हरणात्र में एक व्यक्ति सिर पर सींग लगा कर और हिरन का मुँह लगा कर ढोल बजाता हुआ दिन में सभी को यह सूचना देता है। रात को नाटक मण्डली निश्चित स्थान पर नाटक आरम्भ करती है, जिसमें लोकगीत, लोक-नृत्य और कुछ प्रहसन के स्वांग दिखाये जाते हैं। भगत में किसी धार्मिक लीला को नाटक के रूप में दिखाया जाता है। दर्शक इन लोक-नाट्यों को बड़ी ही तन्मयता से देखते हैं और आनन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु नगरों के समीप सिनेमा के प्रभाव से लोक-नाट्य-कला को पर्याप्त आघात पहुँचा है। अब ऐसी मण्डलियों के कार्यकर्ता अपने को बहुत तुच्छ समझने लगे हैं। प्रोत्साहन के अभाव से भी इसे जीवित रखना कठिन होता जा रहा है। यद्यपि सरकार की ओर से इस कला के उत्थान के लिए पृथक् विभाग खोला गया है, किन्तु इस विभाग की ओर से जो नाटक मण्डलियों को अभिनीत करने के लिए दिए जाते हैं, उनकी न तो भाषा ये लोग समझ पाते हैं, न उनका वातावरण या कथानक इनकी संस्कृति के अनुरूप हैं। यहाँ तो इस बात की आवश्यकता है कि नाटक स्थानीय लोगों की अपनी भाषा तथा अपनी संस्कृति से ओतप्रोत हो। तभी वह लोकप्रिय होगा और दर्शक तथा अभिनेता उसमें रुचि लेंगे। तभी कला का उत्थान होगा तथा सरकार का उद्देश्य सार्थक हो सकेगा।

आज चम्बा का लोक-साहित्य प्रकाश में आने के लिए अंगड़ाई ले रहा है। किन्तु उचित साधनों तथा आवश्यक सुविधाओं के अभाव से इसकी गति बहुत मन्द है। जो लोग अभी इस कार्य में जुटे हैं उनमें सर्वश्री हरिश्चन्द्र शास्त्री, श्री अमरसिंह रणपतिया, श्री मैथिलीप्रसाद भारद्वाज के नाम ही उल्लेखनीय हैं। अन्य कार्यों में व्यस्त रहने से ये महोदय भी इस कार्य में बहुत समय नहीं दे पाते। फिर, इनके प्रयत्न भी व्यक्तिगत हैं, सामूहिक नहीं। यहाँ तो ऐसे बीसियों साधकों की आवश्यकता है जो तन, मन, धन से दिन-रात को एक समझकर इस कार्य में जुट जायें। तभी यहाँ का लोक-साहित्य प्रकाश में आकर, भारतीय लोक-साहित्य की समृद्धि में सहायक बनकर अपना श्रेष्ठ स्थान पा सकता है।

मालवी लोक-साहित्य में शिशुगीत और लोरियाँ

वसन्तीलाल वर्म 'ऋतुराज'

भारतीय लोकगीतों की सहस्रोन्मुखी धारा में, लोक-जीवन का सांस्कृतिक शतदल-कमल खिल उठा। उनमें भारत के विभिन्न प्रदेशों की मिट्टी की सोंधी सुगन्ध प्राप्त होती है और अनेक जातियों की जीवन-प्रणाली, उनके रीति-रिवाज, व्यवहार, धार्मिक धारणाएं और समाजिक मान्यताएं सब कुछ मुखरित हो उठी हैं। उनमें पुरुष का अजेय पौरुष, नारी की मुकोमल, हृदयजन्य, ममत्वपूर्ण प्रेम-भावना तथा शिशुओं का सरल, स्वच्छ और स्वाभाविक भोलापन भरा पड़ा है। इनमें पिता का प्यार, माता का दुलार और बालक की किलकारी सुनाई देती है। जब ये गीत समवेत स्वरों में गाये जाते हैं, तो उनमें से असंख्य वाद्ययन्त्रों का ध्वनियाँ फूट पड़ती हैं और अनन्त राग-रागनियों के स्वर गूँज-गूँज उठते हैं। उनमें 'सत्यम्' का प्राण, 'शिवम्' की प्रतिष्ठा और 'सुन्दरम्' का प्रकाश प्रस्फुटित होता रहता है। ऐसा अनन्त और अन्तहीन वैभव अपनी अपार श्रीसम्पन्नता को लेकर असंख्य मालवी लोकगीतों में निखर-बिखर रहा है।

हम सामान्यतया लोकगीतों का वर्गीकरण तीन भागों में कर सकते हैं—

(१) स्त्रियों के गीत

(२) पुरुषों के गीत

(३) शिशुओं के गीत (बालगीत, शिशुगीत और लोरियाँ)

उक्त तीन प्रकार के लोकगीतों में यहाँ हम केवल तीसरे प्रकार के लोकगीतों पर विश्लेषणात्मक विचार प्रकट करेंगे और उनका वर्गीकरण कर उनके विभिन्न भेदोपभेदों को समीक्षात्मक दृष्टि से देखेंगे।

जहाँ तक शिशुओं के गीतों का सम्बन्ध है, हम उनमें बालगीत और लोरियाँ भी सम्मिलित कर सकते हैं। लोरियों का मूल्यांकन करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र लिखते हैं— "लोकगीतों का जन्म मनुष्य में अपने-आप हुआ है, किन्तु बालगीत और लोरियों में

हमारी परिवर्तनशील दुनिया की छाया मिलती है।[1] इन शिशुगीतों में बच्चों के हृदय की धड़कन विद्यमान है। वे जब मस्त होकर खेलते हैं, तो उनका मन अपार अनान्द से लहरा जाता है। तेलगु लोकगीतों के अध्येता कर्णराज शेष गिरीराव लोरियों की स्वाभाविक वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"उनका स्वभाव प्रकृति की तरह स्वच्छ है, उनकी प्रवृत्तियाँ नदी की तरह अविरल हैं और उनके भाव दर्पण की तरह साफ होते हैं।"[2] यह एक मनोवैज्ञिनिक सत्य है कि बालकों का स्वभाव अत्यन्त भोला और शान्त होता है। उनकी मानसिक स्थिति प्रौढ़ व्यक्ति की मानसिक स्थिति से बिलकुल भिन्न होती है। वह नवांकुरित कुसुम के पराग की भाँति गंधमय है। इसीलिये 'नवजात शिशु' की मानसिक दशा को बाल-मनोविज्ञान के अन्तर्गतक एक विशेष नाम से पुकारते हैं।[3] ये बालगीत और लोरियाँ बच्चों के मन बहलाने, खेल-तमाशे करने और बालसुलभ क्रीड़ाओं का आयोजन करने की ही वस्तु नहीं है, बल्कि इनमें भी काव्य-सिद्धान्त के अनुसार रस-परिपाक और अलंकार-निरूपण भी पूर्ण सफलता के साथ बन पड़ा है।

'हमारे अलंकार-शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख है, परन्तु लोरियों और बालगीतों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसों के अन्तर्गत नहीं है। अभी-अभी जोती गई जमीन से जो गंध निकलती है या शिशु की नवनीत कोमल देह में जो स्नेह को उबाल देने वाली गंध है, उसे फूल, चन्दन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगंध के साथ एक श्रेणी में रखा नहीं जा सकता। सभी सुगन्धों के मुकाबले में उसमें एक अपूर्व आदिमता है। इसी प्रकार लोरियों में भी एक आदिम सुकुमारता है, जिसकी मधुरता को बाल्य-रस नाम दिया जा सकता है। यह तीव्र नहीं है, गाढ़ नहीं है, यह बहुत ही स्निग्ध, सरस, और युक्ति तथा संगीत से हीन है।"[4]

लोकगीतों का उद्भव कब, कैसे और कहाँ हुआ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे प्रामाणिकता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। किन्तु लोरियों के लिये यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जब सर्वप्रथम • मानवी ने आदि मानव मनु के प्रथम नवजात शिशु को रूदन-स्वर करने पर अपने अंचल में छिपा, अपनी सुकोमल अंगुलियों से थपथपाकर पयपान कराते हुए मातृत्व की भावना से ओतप्रोत हो, जाने-अनजाने में जो कुछ गुनगुनाया, वही गान स्वरों को लहरियों के माध्यम से लोरियों के रूप में परिणत हो गया।

इन लोरियों का महत्व संसार के साहित्यकारों ने सदियों पूर्व आंका था तथा उन्हों ने इन्हें साहित्य, सभ्यता, संस्कृति और इतिहास का अविभाज्य अंग माना है। भारत की लोक-भाषाओं में भी असंख्य लोरियाँ भरी पड़ी हैं। मालवी भाषा में तो इनका बाहुल्य

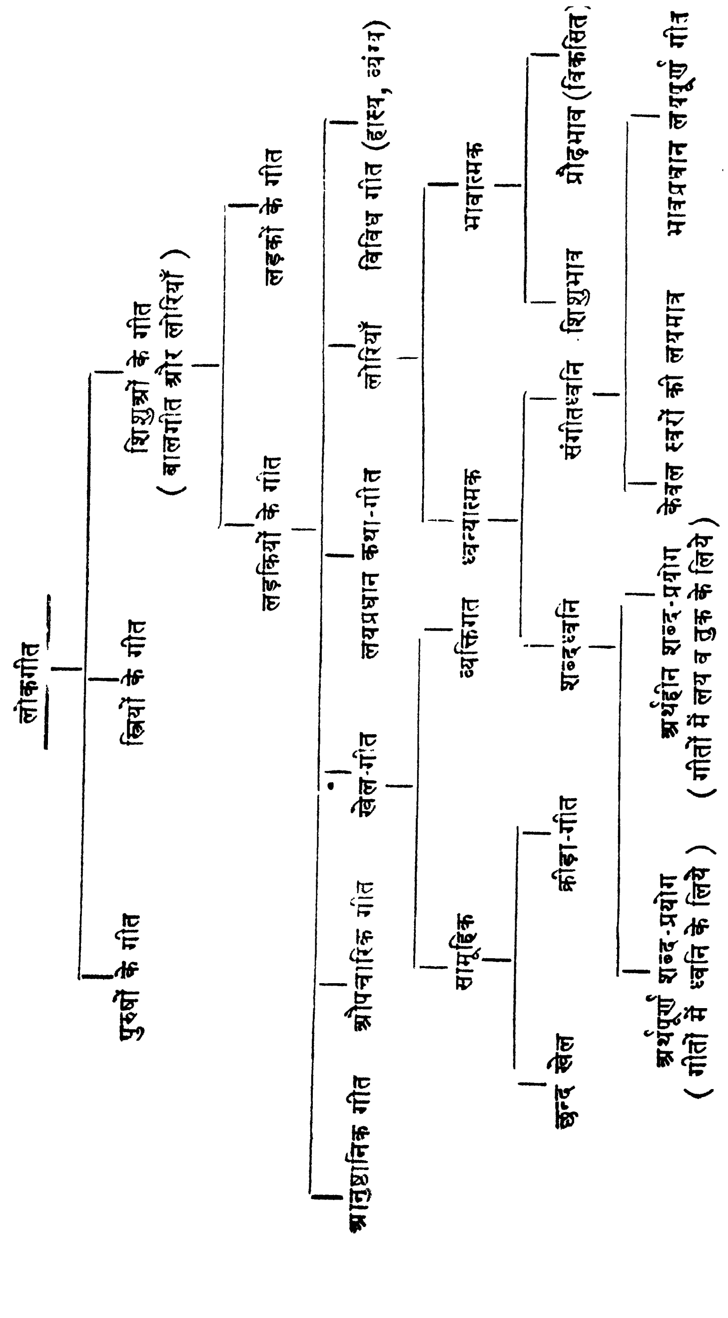
१. 'विश्वभारती' में प्रकाशित रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख से उद्धृत।

२. श्री कर्णराज शेष गिरीराव के 'तेलगु के बालगीत' नामक लेख से उद्धृत ('अवन्तिका', पृष्ठ ८९२)।

३. 'बाल-मनोविज्ञान' पृष्ठ, ७०।

४. 'विश्व भारती' में प्रकाशित श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख से उद्धृत।

है। शिशुगीत, बालगीत और लोरियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के हेतु, हम इसका वर्गीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—



इस वर्गीकरण में तीसरे प्रकार के गीतों को शिशुगीत, बालगीत और लोरियों के नाम से सम्बोधित किया गया है। इनमें लड़के और लड़कियों के गीतों में सामान्यतया विभिन्नता की प्रमुखता पाई जाती है, किन्तु बालगीत, शिशुगीत और लोरियों में हमें अधिकांश स्थलों पर समानता के लक्षण ही दिखाई देते हैं। 'लोरियाँ नवजात और नासमझ बालकों के गीत हैं, जिनका समय जन्म से तीन-चार वर्ष तक माना जा सकता है। इसके पश्चात् वह नवजात शिशु अपनी शैशवावस्था में पहुँचता है। ऐसे बालकों के गीतों को 'शिशुगीत' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन गीतों का समय तीन-चार वर्ष की आयु वाले बालक-बालिकाओं से सात या आठ वर्ष की आयु तक है। इसके पश्चात् वही शिशु अपने बाल्यकाल में आ जाता है। अब उसका शारीरिक और मानसिक विकास होने लगता है। उसे दुनिया की कई नवीन वस्तुओं का अनुभव होने लगता है। इस समय के गीतों को 'बालगीत' के नाम से पुकारते हैं। इनका समय सात-आठ से चौदह वर्ष की उम्र तक माना जाता है। इन गीतों में बालकों के मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। बालक और बालिकाओं के गीतों में वैभिन्न्य होते हुए भी साम्य के दर्शन होते हैं। जहाँ तक 'लोरियों' का प्रश्न है, वे दोनों ही प्रकारों में समान हैं। उनमें केवल नामों का परिवर्तन होता है। मालवा में लड़के को 'नाना' 'छोरा' 'टोर्या' 'पोर्या' 'कूका' 'बाबू' आदि कई नामों से पुकारते हैं। इसी प्रकार लड़की को 'नानी' 'छोरी' 'टोरी' 'दारी' 'पौरी' 'कूकी' 'बई', लड़की—आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। बालकों और बालिकाओं की लोरियों में उनके नामों का प्रयोग होता है, किन्तु गीत की शेष पंक्तियाँ दोनों में समान पाई जाती हैं। बालगीत और शिशुगीतों में भी कुछ गीत बालक-बालिकाओं के समान हैं, और आनुष्ठानिक, लयप्रधान कथा-गीत और सामूहिक खेल-गीतों में पूर्ण रूपेण भिन्नता दिखाई देती है। औपचारिक, व्यंग्य और हास्य-गीतों में साधारण परिवर्तन करने पर एकरूपता दिखाई देती है।

लोरियों के भी दो प्रकार हैं—ध्वन्यात्मक एवं भावात्मक। ध्वन्यात्मक लोरियों में शब्दध्वनियाँ और संगीतध्वनियाँ पाई जाती हैं और भावात्मक लोरियों में शिशु-भाव और प्रौढ़ भाव समाविष्ट हुआ है। 'शब्दध्वनि' के अन्तर्गत आने वाली लोरियों के शब्दों में अर्थ का प्राधान्य रहता है, किन्तु 'संगीतध्वनि' वाली लोरियों में ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, जिनमें केवल ध्वन्यात्मक प्रभाव पाया जाता है। उनमें ध्वनि-साम्य, वर्ण-साम्य और लय-साम्य रहता है। प्रत्येक पंक्ति में तुकान्त प्रयोग सुन्दर बन पड़े हैं। इस प्रकार की लोरियाँ शब्दों व वर्णों के अनुरणनात्मक प्रयोग के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। 'लोरियां' नींद लाने वाली दवा के समान हैं। जिस प्रकार रोग की पीड़ा से तड़पते हुए रोगी को डाक्टर नींद की दवा देकर, निद्रामग्न कर देता है, उसी प्रकार मां भी अपने अबाध शिशु को रोते-बिलखते देखकर उसे पालने में सुला, गुदगुदे हाथों से सहलाती हुई मधुर स्वरों में गा उठती है। यही स्वरमाधुरी उस अबोध शिशु को सुलाने वाली दवा का काम करती है।

इस प्रकार की लोरियाँ शब्दों और वर्णों के अनुरणनात्मक प्रयोग के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। इन शिशुगीत, बालगीत और लोरियों में कुछ गीत ऐसे हैं जो मराठी, गुजराती, मालवी, अवधी, तेलगु, पंजाबी, बुन्देलखण्डी तथा भोजपुरी आदि भाषाओं और बोलियों में गाये जाने वाली लोरियों से कई प्रकार का साम्य रखते हैं। मुख्य रूप से उनमें केवल भाषा का अन्तर कहा जा सकता है और शेष अंगों में अत्यधिक समानता पाई जाती है।

'तेलगु के बालगीत' नामक लेख में श्री कर्णराज शेष गिरीराव का मत है कि उनकी गुजरात-यात्रा के समय कुछ गुजराती मित्रों ने उन्हें बताया कि 'तेलगु के गीत गुजराती प्रान्त में भी प्रचलित हैं'[१]। इसी प्रकार मराठी लोकगीतों की लेखिका श्री कमलाबाई देशपाण्डे ने मराठी बालगीत व खेल-गीतों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'उखाणें खेलांची गाणी, यांत कांहीं ठिकाणीं अर्थहीन पण, लयबद्ध शब्दरचना सांपड़ते। उदाहरणार्थ 'धिनक-धिनक-धिन्नाड़े' ही ओल दुसर्या एका गोफाच्य प्रकारांतील 'शालु की शाल की, तुझी माझी पालखी।' 'पगड़ा फु, बाई पगड़ा फु।' 'यांतील शालु की शाल की।' 'पगड़ा फु बाई' पगड़ा फु। हा ओली, त्याच प्रमाणें "आगोटा, पगोटा" 'आडवल धुम, पडवल धुम' किंकीचं पान बाई की की।' 'सांगड़ मासा सूँ सूँ।' या सर्व ओली अर्थहीन परन्तु लयबद्धते मुलें गाण्यात आलेल्या वाटतात, खेलाच्या सर्व गण्यांत बहुधा एखादी पहिली अगर शेवटची-ओल निरर्थक पण लयबद्ध शब्द-रचना दर्शविणारी अशी येतें।"[२]

मराठी के बालगीत और खेल-गीतों में प्रचलित जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख उपर्युक्त वक्तव्य में किया गया है, वे प्रवृत्तियाँ मालवी के बालगीतों में भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे गीत प्रस्तुत करेंगे, जिनमें उक्त प्रवृत्ति का प्राधान्य है—

हालर-हूलर हाँसी को,
लाल-चूड़ा, थारी मासी को,

× × ×

अटली मटली दाम दड़ेलो,
दामा घरे, आम-पास
जीमे बेठ्या, म्यान गार

× × ×

अटकन मटकन,
दई चटोकन,
अगला झूले बगला झूले,
सावन मास, करेला फूले।

× × × ×

१. 'तेलगु के बालगीत'—कर्णराज शेष गिरीराव के लेख से उद्धृत।

२. 'अपौरुषेय वाङ्गमय अथवा स्त्रीगीतें'—श्री कमलाबाई देशपांडे।

आकूल्या, माकूल्या,
नाना पे, रीसां बले,
ऊकी आंख में,
लाल-लाल ताकूल्या ।

अक्कारो, डक्कारो,
नाना पे, रीसां बले,
ऊकी आंख में,
लाल-लाल अंगारो ।

थेपड़-थेपड़ छाणा,
चोर माथे बाणा ।

× ×

इरिंग, बिरिंग,
लोंगा तिरिंग
डुग-डुग बाजा,
कासी, गोपी ।
तिल्ला राजा ।

× ×

रेखांकित शब्द और चिह्नित पंक्तियाँ हमें उसी प्रकार के शब्दों का बोध कराती हैं, जो अर्थहीन होते हुए भी लयबद्ध शब्द-रचना-विधान के प्रतीक हैं। उपर्युक्त सभी उद्धरणों में इसी प्रकार के शब्दों का समावेश हुआ है । 'हालर-हूलर हांसी को', 'अटली मटली दाम दड़ेला', 'अटकन मटकन, 'आकूल्या माकूल्या', 'अक्कारो डक्कारो' 'इरिंग, बिरिंग, लोंगा तिरिंग', और 'डुग-डुग' आदि सभी अर्थहीन शब्दावलियों के समूह हैं । पाँचवे उद्धरण की यह विशेषता है कि 'थेपड़-थेपड़' शब्द को भी अर्थहीन शब्दों की श्रेणी में जाना चाहिये, किन्तु यहाँ पर ये दोनों शब्द एक विचित्र प्रकार का भाव लिए हुए हैं । इनमें अर्थ और ध्वनि दोनों का साम्य संयुक्त रूप से बन पड़ा है । 'छाणा' शब्द का अर्थ 'कण्डों' से होता है । ' थेपड़-थेपड़ छाणा' से अर्थ कण्डों के थापने (बनाने) से है । अब गोबर से कण्डे थापे जाते हैं, तब उससे इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है ।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर मालवी के शिशुगीत, बालगीत और लोरियों में जो विभिन्न प्रकार के गीत प्राप्त होते हैं, उनमें आनुष्ठानिक गीतों का बाहुल्य है । बालकों के आनुष्ठानिक गीतों में 'छुल्ला-भोला' 'गोगा' आदि प्रसिद्ध हैं और बालिकाओं के गीतों में 'घड़ल्या', 'संजा-पूजा' आदि गीतों को मान्यता दी गई है । इन गीतों में छोटे छोटे बालक-बालिकाओं की मनोगत भावनाएं और कलात्मक प्रवृत्तियाँ 'श्राद्ध पक्ष' में मालवा के प्रत्येक घरोंदों में गोबर से बनाई गई, उभरी हुई रेखाओं में अभिव्यक्ति पाती है । 'गरबा' भी इसी प्रकार के 'मंगल कलश' के पूजन-अर्चन और साधना का त्योहार है । मूल रूप से यह त्योहार गुजरात का है, किन्तु इसकी लोकप्रियता ने कई प्रदेशों को प्रभावित किया है । 'नवरात्र में दीपमालाओं से जगमगाते हुए इन मंगल-कलशों के आसपास वृत्ताकार में गीत गाते हुए सुहागिन-नारियाँ व कुँवारी बालिकाएँ सारी रात बिता देती हैं । 'खेल-गीतों' में सामूहिक खेल और व्यक्तिगत खेल खेलते समय एक विशेष प्रकार के गीत गाये जाते हैं । बालक और बालिकाओं के व्यक्तिगत खेल-गीत लगभग एक ही जैसे हैं, किन्तु सामूहिक खेल गीतों में भिन्नता प्रतीत होती है । लड़कों के सामूहिक खेल-गीत 'इलायची डब्बा' 'घूघेर माल' 'ऐले पेले पारके' 'अटली-मटली' आदि हैं और लड़कियों के सामूहिक गीतों में 'गुड्डा-गुड्डी के

गीत' 'बीरा के गीत' आदि प्रमुख हैं। व्यक्तिगत खेलगीतों में 'एक थो राजो', 'चिट्ठी मिट्ठी', 'अटकन-मटकन', 'तेरा नाम क्या', 'ताली ताली नन्दा' आदि गीत प्रमुख हैं। औपचारिक गीतों में 'पेला पितम्बर', 'सावन के गीत', 'बरसात के गीत', 'इड़िंग बिड़िंग', 'पोथी बाँचने का गीत', 'इंडक माता', 'पाणी बाबो', 'चिड़ियाँ के गीत', गिनती सीखने के गीत, व 'गाय के गीत' अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन गीतों के साथ-साथ इनमें हास्य, व्यंग्य और ऋतुओं के गीतों का भी समावेश हुआ है। लयप्रधान (ध्वन्यात्मक) गीतों में 'चाँदे बेठी—चीरखली', 'चाँदा बाबा पोली दे', 'ठंड बजे ठाड़ीं', 'धोई लेरे मूंडो, धोई ले रे', 'भूर्या की जीजी' आदि ऐसे कई गीत हैं, जो ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अलग-अलग अपना महत्व रखते हैं। इन्हीं गीतों को लेकर शास्त्रीय संगीत के सुविख्यात अन्वेषक एवं सुप्रसिद्ध गायक श्री कुमार गंधर्व ने नई-नई धुनों का निर्माण कर संगीत-संसार को एक नई देन दी है। श्री गन्धर्व द्वारा रची गई इन धुनों ने संगीतशास्त्रियों को एक नई दिशा का बोध कराया है।

क्रम-सम्बद्ध-कथा-गीत बहुत कम पाये जाते हैं, अबतक हमें इस प्रकार के लगभग दस गीत उपलब्ध हो सके हैं, जिनमें से दो गीतों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। इन गीतों में माँ का ममत्व उस समय जाग्रत हो उठता है, जब वह अपने लाड़ले को रूठते हुए देखती है—

"नानारे तू बायर मती जाय, थारा पगल्या धूल में भराय।
धूल में भराय तो कसों करूँ, आँबा-रोटी रसो करूँ।
रस में पड़ियो काँकरियो, नाना का दादाजी ठाकरियो।
ठाकरियो ठकरई करे, नाना ऊपर लूण करे।
लूण करंता, लागी बार, नानो भई जीमे चाँवल दाल।।"

× × ×

नानारे तू बांगा मती जाय, बांगाका जमाफल तोड़ी-तोड़ी खाय।
आवेगी मालण, देवेगी गाल, नाना का झगल्या, टोपी लेगी छुड़ाय।
नानो भई फिरे म्हारो अलो-गली, तन कुमलाणो चम्पा की कली।
नाना भई म्हारो कां गयो? ढोल बाजे जां गयो।
हेला पाड़ू बाड़ी में, बोले चम्पा बाड़ी में।"

जब माँ इन दोनों लोरियों के धीमे-धीमे स्वरों में अपने लाड़ले बेटे को झूले में झुलाते हुए अपने सुमधुर कण्ठ से गुनगुनाने लगती है, तब उस प्रकोष्ठ का वातावरण शान्त, सरल और निर्मल बन जाता है और नींद की मस्ती संगीत की स्वर-लहरी द्वारा उसके मानस पर अधिकार जमा लेती है। माँ गीत अधूरा छोड़कर फिर अपनी दिनचर्या में संलग्न हो जाती है और उधर ज्यों उन गुंजित स्वरों से भरा वातावरण शान्त हो जाता है, त्योंही बालक फिर अचानक रो पड़ता है और माँ फिर आती है। वह अपने धीमे-धीमे और मधुर स्वरों में गीत की दो-चार पंक्तियाँ फिर गुनगुना जाती है

और शिशु का चेतन मन फिर नींद के अवचेतन आवरण से ढंक जाता है । इसी प्रकार की कुछ लोरियों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जो सदियों से मालव-जन के मन पर एकाधिकार जमाये हुए हैं—

"नाना का पालना में रेशम की डोर, जो हुलरावे[1] उने घुगरी[2] ने गोल[3] ।
आवेगा काका, मामा, नाचेगा मोर, नाना का घर की पकी गई बोर ।।"
"नाना की बई तो पाणी गई, घर में कुत्ता बाड़ो[4] गई ।
कुत्ता ने तो कर्यो उजाड़[5], नाना के पड़ीग्या धप्पा चार ।।"
"नानो भई तो म्हारो रायाँ[6], को, दूध पिये दस गायाँ को ।
एक गाय नाना की दुधनी दे, नानो भई म्हारो रोतो नी रे ।
रोतो नी रे तो कसो[7] करूँ, आंबारोटी, रसो करूँ ।
नानो भई म्हारो जीमतोई[8] जाय, बिल्ली बाटकी चाटती जाय ।"
"नाना भई की तो दो-दो गाय, कूण[9] दुवे[10] ने कूण मेलवाने[11] जाय ।
काकासा दुवे ने बाबासा मेलवाने जाय, पीछे से नानो भई बी दोड़यो दोड़यो जाय ।
मती[12] जाव नाना भई बायर[13] मती जाय, छोटा-छोटा पगल्या[14] धूल में धराय ।।

प्रस्तुत लोरियों में मातृ-हृदय के वात्सल्य रस की धारा अविरल रूप में प्रवाहित हो रही है । माता अपने पुत्र के लिये कई काल्पनिक सपनों का निर्माण कराती है और उनमें ही खोई-खोई-सी भटकती रहती है । कभी वह अपने लाड़ले को रेशम की डोर से बँधे पालने में झुलाती है, तो कभी उसे दस गायों का दूध पिलाती है, आम व रोटी खिलाती है । इतना ही नहीं, उसे उसकी भी चिन्ता है, जो उसके लाड़ले को झोले दे रहा है ।

अब हम औपचारिक गीतों का विवेचन करेंगे, जिनमें लयबद्ध गीत, कथा-गीत, अर्थहीन शब्द-रचना के गीत, और व्यंग्य, हास्य आदि विभिन्न प्रकार के गीतों का समन्वय हुआ है ।

लयबद्ध कथागीत
(छन्द खेल)

चिटूठी[15]
मिटूठी,[16]
गुदगुदावणी,[17]
रस्तो बतावणी,[18]
राणाजी को सीटो,[19]

सुवो के सुई,
सुई
भारी सासू मुई,[20]
सुवो के सुई,
सुवो,

१. झुलावे, २. ज्वार अथवा गेहूँ को बिना पीसे पकाकर नमक-मिरच डालकर बना हुआ खाद्य पदार्थ, ३. गुड़ ४. घेरकर, रोककर, ५. नुकसान ६. सुसम्पन्न परिवार. ७. कैसा, ८. भोजन करना, ९. कौन, १०. दूध दुहना, ११. जंगल में चराने १२. नहीं, १३. बाहर, १४. पाँव १५. सबसे छोटी उँगली, १६, छोटी उँगली के पास वाली अनामिका, १७. बीच की उँगली १८. तर्जनी, १९. अंगूठा । २०. मर गई ।

थारो[१] सुसरो मुवो,
तालो [२]खुलेईनी, कूँची पावेईनी,[३]
आजे रे लुवार का बेटा,
तोलो खोलजे,
खच—खच।"

× ×

अटकन मटकन,[४]
दही चटोकन,[५]
अगला झूले,[६]
बगला झूले,[७]
सावण मास करेला फूले,
फूल फूल की बावड़ी,[८]
राजो गयो दिल्ली,
दिल्ली से लायो सात कटोरी,
एक कटोरी फटगी,
राजा की टाँग टुटगी।"

क्रम-संबद्ध-कथा-गीत

(क्रीड़ा-गीत)

पेला पितम्बर,
दूजा हीरा,
तीजा कीड़ा
चौथा चाँद,
पाँच का पण्ड्या,
छै की छड़ी,
सात का सत्नारायण,
आठ का एठवाड्या,
नो का नाई
दस का दसेरा
ग्यारा की गऊ
बारा की बऊ
तेरे को तार,
चवदा को चोर
पन्दरा की पूनम,
सोला की अमावस।

बरसात के गीत

पाणी बाबो आयो,
कंकड़ी भुट्टा लायो,
म्हारा मामा को बाड़ सूखे,[९]
डेंडक माता पाणी दे।"

× ×

डेंडक माता पाणी दे,
पाणी की पड़ताल दे,

× ×

पटेल रे पटेल, थारी तुमड़ी[१०] में तेल,
छोरा-छोरी बेच खाय, काय को पटेल।"

शीत-काल का गीत

ठंड बजे ठाड़ी,[११]
पटेल लावे पाड़ी[१२]
पाड़ी ने कर्यो पोटो,[१३]
लो पटेल रोटो[१४]
रोटा ऊपर भाजी,
पटेल को मन राजी।[१५]

खेल-गीत में ईश्वर का बालरूप

अटली मटली दाम दड़ेलो,
दामा घरे आस-पास
जीमे बेठ्या म्यानगार,[१६]
म्यानगार की काली टोपी,

तेरा, २. खुलता नहीं, ३. मिलती नहीं, ४. शब्द-समुह, बिना अर्थवाला, ५. चाटने वाला, ६. सीधे हाथ को, ७, बाएँ हाथ को, ८. झूलने का झूला ९. गन्ने का खेत, १०. तुम्बी, ११. ठिठुरकर खड़ी, १२. भैंस की कटिया, १३. गोबर का पोटा, १४. ज्वार की रोटी, १५. प्रसन्न, १६. तलवारधारी सिपाही।

काला है, किसन जी,[1]
गोरा है, मुकन जी,
रामजी ने डंको[2] दीयो,
जीत्या[3] हनुमान जी।"

ध्वनि-साम्य

थेपड़ थेपड़ छाणा[4]
चोर माथे बाणा,[5]
चोर लईग्यो पिण्डी,[6]
रोटी हुईगी ठण्डी।

× ×

चांदा बाबा पोली[7] दे,
घी की कचोली दे,
आदो[8] लाडू भावे नी,
आखो[9] लाडू देवेनी,
ढोली ढोल बजावे नी,
झम्मक-लाड़ी आवेनी।'

× ×

गेली गोर,
परणाई दूँ पोर,
ऐसो लऊँ लाड़ो,
दोई आँख बाड़ो[14]

× ×

भजो राधे-गोविन्द,
भजो राधे गोविन्द,
दाल-बाटी[15] खूट[16] गये,
चूरमे में गंज[17]।
भजो राधे गोविन्द

× ×

"चादे बेठी चीड़खली,"[11] उड़ई दो म्हरा दादाजी,
"आंगण बेठ्या"[12]पावणा,[13]जीमई दो म्हारा दादाजी।

× ×

रामू की चीड़िया ने रामू को खेत,
खाव म्हारी चिड़िया, भर-भर पेट।

उपर्युक्त चौदह बालगीतों में प्रथम गीत छोटे बालकों की ऊँगलियों को एक विशेष नाम से सम्बोधित कर गिनने और एक विशेष प्रकार का खेल खेलने के समय गाया जाता है। दूसरे गीत में राजा की हँसी उड़ाई गई है, जिसमें सावन मास और झूले का भी वर्णन आ गया है। तीसरे गीत से प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण दृश्य उपकरणों को लेकर बालकों को गिनती सिखाने और विभिन्न उपकरणों के नाम याद कराने में सहायता पहुँचती है। इसे कुछ बालक आपस में मिलकर अपने पर भी घटित करते हैं। बरसात ग्रामीण पटेल की व्यंग्यपूर्ण हँसी छठे व सातवें गीतों में उड़ाई गई है। गाँव का और शीत के गीतों का वर्णन क्रमशः चौथे, पाँचवें और सातवें गीतों में हुआ है। पटेल एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण वह भी बालकों के हास्य का पात्र बन गया है। आठवें व तेरहवें गीतों में राम, कृष्ण और हनुमानजी के साथ बालकों ने खेलना प्रारम्भ

१. श्रीकृष्ण, २. आदेश, ३. विजयी हुए, ४. कण्डे, ५. जूते, जोड़ियाँ ६. घास का पिण्डा, ७. नरम व पतली रोटी, ८. आधा, ६. ,पूर्ण, पूरा, १०. कच्ची दीवार, ११. चिड़िया, १२. आँगन में, १३. मेहमान, पाहुन, १४. तिरछा देखने वाला, १५. एक प्रकार का खाद्य पदार्थ, १६. समाप्त होना, १७. ढेर।

कर दिया है, किन्तु आठवें गीत को बालक और बालिकायें अपने हाथों को अंगुलियों के आधार पर उलटा टिका कर एक विशेष प्रकार का खेल खेलते समय गाती हैं। नवें, दसवें और ग्यारहवें गीत में शब्द-ध्वनि और अर्थ-ध्वनि दोनों प्रकार के पदों का मिश्रण हुआ है; किन्तु उनमें गेयशक्ति की प्रधानता होने से वे बालकों के लिए सुगम, सरल और सुबोध बन गए हैं। बारहवें और चौदहवें गीत में रामू किसी लड़की को पगली कहकर उसकी हँसी उड़ाता है। इन गीतों में वस्तु-वर्णन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है और प्रत्येक प्रतीक को सुबोध एवं सरलतम ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत लेख में हम शिशुगीतों की विभिन्न प्रवृत्तियों का विस्तृत विश्लेषण नहीं कर सके। कुछ गीतों के बड़े होने के कारण तथा बालिकाओं के आनुष्ठानिक गीतों का बाहुल्य होने के कारण, उन सभी गीतों का विवेचन इस लेख की परिमित सीमा में सम्भव नहीं है। उनपर स्वतन्त्र रूप से फिर कभी विचार किया जा सकेगा।

निमाड़ी लोक-साहित्य

रामनारायण उपाध्याय

निमाड़ और उसकी सीमा

हिन्दुस्तान के नक्शे में विन्ध्य और सतपुड़ा के बीच जो भू भाग है, वह निमाड़ के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे शासन-व्यवस्था की दृष्टि से यह दो भागों में विभाजित रहा है—एक, पूर्वी निमाड़ और दूसरा, पश्चिमी निमाड़। लेकिन रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाव-भाषा और संस्कृति की दृष्टि से दोनों एक और अभिन्न हैं।

भौगोलिक सीमा की दृष्टि से उत्तर में विन्ध्याचल, दक्षिण में सतपुड़ा, पूर्व में छोटी तवा नदी और पश्चिम में हरिणछाल के पास सुदूर धार और बड़वानी को लेकर इसकी सीमाएँ बनती हैं। यह एक संयोग की बात है कि उत्तर और दक्षिण में यदि दो पर्वत सजग प्रहरी की तरह इसके दो किनारो पर खड़े हैं, तो पूर्व और पश्चिम में दो नदियाँ इसकी सीमा-रक्षा करती आयी हैं। अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों की दृष्टि से उत्तर में मालवा, दक्षिण में खानदेश, पूर्व में होशंगाबाद और पश्चिम में सुदूर गुजरात को इसकी सीमाएँ छूती हैं।

कुछ लोग निमाड़ और मालवा को एक ही सीमा में गिनते हैं। लेकिन वास्तव में मालवा यदि नर्मदा के उत्तर में फैला है, तो निमाड़ नर्मदा के दक्षिण में पूर्व और पश्चिम की ओर फैलते हुए सुदूर खानदेश तक चला गया है। डाक्टर यदुनाथ सरकार के मत से, और मालवे की एक लोकोक्ति से भी, इसकी पुष्टि होती है। डाक्टर यदुनाथ सरकार ने 'इण्डिया एण्ड औरंगज़ेब' में मालवा की सीमा के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—'स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूर्व में बेतवा एवम् उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थी।' एक लोकोक्ति के अनुसार भी दक्षिण में मालवे की सीमा नर्मदा तक ही मानी जाती है। उसके शब्द हैं—

"इत चम्बल, उत बेतवा, मालव सीम सुजान।
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान॥"

समूचे निमाड़ की जनसंख्या करीब २० लाख और क्षेत्रफल १५ हजार वर्ग मील है।

नाम

जहाँ तक इसके नाम का सम्बन्ध है, ऐसा अनुमान है कि यह उत्तर भारत और दक्षिण भारत का संधि-स्थल होने से आर्य और अनार्यों की मिश्रित भूमि रहा होगा और इसी नाते इसका नाम 'निमार्य' (नीम + आर्यः) पड़ा होगा। 'नीम' का अर्थ भी निमाड़ी में "आधा" होता है। इसी 'निमार्य' का रूप बदलते-बदलते 'निमार' और 'निमाड़' हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि निमाड़ मालवे से नीचे की ओर बसा है। मालवे से निमाड़ की ओर आने में भी निरन्तर नीचे की ओर उतरना होता है। इस तरह 'निम्नगामी' होने से इसका नाम 'निमानी' और उससे बदल कर 'निमारी' और 'निमाड़ी' हो गया होगा।

प्राचीन इतिहास

प्राचीन इतिहास की दृष्टि से पहिले यह 'अनूप जनपद' के नाम से प्रसिद्ध था। अभिलेखों और शिला-लेखों के आधार पर इस जनपद का अनूप नाम ईसा की पहिली और दूसरी सदी से पाया जाता है। ईस्वी सन् १२४ में गौतमी-पुत्र सतकर्णी ने नहपाना नामक नरेश से जो प्रदेश अपने अधिकार में लिया, उसमें 'अकारा' (पूर्वी मालवा) और 'अवन्ति'-(पश्चिमी मालवा) के साथ 'अनूप' (निमाड़) का भी उल्लेख है।

इससे भी पहिले कण्व और सुंग के राज्य को नष्ट करके आन्ध्र के राजा सियुक्त सतवाहन ने मालवा और निमाड़ में अपना राज्य स्थापित कर लिया था और उसका पराभव कनिष्क के कुशान साम्राज्य के प्रतिनिधि महाक्षेत्रप रुद्रदमन ने किया था। इस इतिहास का उल्लेख गिरनार के ईस्वी सन् १५० के जिस शिलालेख में किया गया है, उसमें भी इस प्रदेश का नाम अनूप दिया गया है[१]।

पुरातत्व की दृष्टि से सन् १६५२-५३ ई० में महेश्वर के पास जो खुदाई हुई, उससे पता चलता है कि नर्मदा की घाटी में मनुष्य ढाई लाख वर्ष से भी अधिक पहिले आबाद हो चुका था। पूर्व में इसके किनारे पर नरसिंहपुर से लेकर होशंगाबाद तक और पश्चिम मे महेश्वर, बल्कि भरोंच के निकट चानोद तक, मनुष्य बसे हुए थे[२]।

खण्डवा और खरगोन आदर्श निमाड़ी के केन्द्र रहे हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १५ लाख है।

लिपि और उच्चारण

निमाड़ी भाषा के कुछ शब्दों की लिखावट और उच्चारण में फर्क रहा है। यदि इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाय तो निमाड़ी भाषा को ठीक ढंग से पढ़ा नहीं जा

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—मध्यभारत जनपदीय अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ७७।

२. पूना के डेक्कन कालेज के उपाध्याय एच० सांकलिया की रिपोर्ट से म० ज० अ० ग्रन्थ—पृष्ठ १३५।

सकता और उसके अर्थ में भी अशुद्धि होने की सम्भावना रहती है। जैसे, निमाड़ी के कुछ शब्द हैं—

मख, तुख, जेम, ओम।

देखने में ये सीधे-सादे दो-अक्षरी शब्द हैं, लेकिन इनके निमाड़ी स्वरूप में प्रत्येक के साथ अन्त में 'अ' का लोप है और उच्चारण में अन्तिम अक्षर पर जोर दिया जाता है। यथा—

मख्अ, तुख्अ, जेम्अ, ओम्अ।

लिखावट और उच्चारण में समन्वय साधने की दृष्टि से मैंने इसके लिए संस्कृत के (ऽ) शब्द का प्रयोग किया है। इससे सारी कठिनाई हल हो जाती है और शब्द का सही स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए निमाड़ी लोकगीत की एक पंक्ति को लीजिए—

'जेम सर आम सारजो'

इसमें इसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है, क्योंकि जैसा लिखा है वैसा ही उच्चारण होगा—'जेम सर ओम सारजो'। लेकिन इसका सही निमाड़ी स्वरूप है—'जम्अ सर्अ ओम्अ सारजो।' अतएव विशुद्ध निमाड़ी लिपि की दृष्टि से यह यों लिखा जावेगा—

'जेमऽ[1] सरऽ[2] ओमऽ[3] सारजो[4]।'

निमाड़ी लोक-साहित्य—एक परिचय

जीवन का संगीत (लोकगीत)

मध्यप्रदेश की लोक-भाषाओं में निमाड़ी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार सभी दृष्टियों से इसका साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध रहा है। जिस तरह यहाँ की ऊबड़-खाबड़ धरती में भी खेती लहलहाती है और भयंकर गर्मी के दिनों में भी पलाश में फूल मुस्कराते हैं, उसी तरह यहाँ की ऊपर से कठोर लगने वाली 'निमाड़ी भाषा' में भी आप मधुरतम स्वप्न, विराट कल्पनाएँ, महान महत्वाकांक्षाएँ, और बारीक से बारीक स्वभाव-चित्रण से लगाकर सुन्दर स्वरूप-वर्णन पायेंगे।

उपमाओं की दृष्टि से इसमें एक ओर यदि मानसरोवर की तरह पिता, गंगा की तरह मां, गुलाब के फूल की तरह बच्चे और ऊगते हुए सूर्य की तरह स्वामी का जिक्र है, तो सौंदर्य की दृष्टि से इसमें ऐसी अनिंद्य सुन्दरियों का जिक्र है जिनका रूप अनुपम एवं मनोरम है और जिनके कोमल हाथ रेशम की डोर से युक्त सोने के घड़े को खींचते हुए छिल जाते हैं।

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से, यहाँ का सूर्य भी धरती के भाल पर लगे कुंकुम की तरह उगता है और यहाँ के आम्रवृक्षों में मोतियों की तरह मौर लगता है।

१. जिसमें २. निभे ३. उसमें ४. निभा लेना।

यहाँ की निर्मल चांदनी रात में चांदनी की ही तरह उज्ज्वल लोकगीत एवं लोक-कथाएँ गूँजती रही हैं।

लोकगीतों का आकर्षण

जिस गीत ने मुझे लोकगीतों की ओर आकर्षित किया, वह एक 'गनगौर' का गीत है। एक दिन मैं गाँव में अपने घर बैठा हुआ था। इसी बीच स्त्रियों का एक दल गीत की निम्न पंक्तियाँ गाते हुए वहाँ से निकला—

"शुक्र को तारो रे ईश्वर उँगी रह्यो, तेकी मखऽ टीकी घड़ावऽ।"

"हे प्रिय! वह जो आकाश में शुक्र का तारा दीख रहा है न, उसकी मुझे टीक गढ़वा दो।"

गीत की इस एक लाइन पर ही मैं मुग्ध रह गया। शिक्षा के नाम पर जिन्होंने एक अक्षर नहीं पढ़ा और यात्रा के नाम पर अपने जिले की सीमा नहीं लाँघी, विचार और भावनाओं की दृष्टि से, उनके पास कितनी भव्य और विराट कल्पना है! उसके बाद तो मुझे अनेक गीत मिले हैं, लेकिन इसकी टक्कर का गीत आज तक कहीं नहीं पा सका हूँ। पूरा गीत इस प्रकार है—

"शुक्र को तारो रे ईश्वर उँगी रहेयो, तेकी मखऽ टीकी घड़ावऽ ॥१॥
ध्रुव की बादलई रे ईश्वर तुली रही, तेकी मखऽ तहबोल रँगावऽ ॥२॥
सरग की बिजलई रे ईश्वर कड़की रही, तेकी मखऽ मगजी लगावऽ ॥३॥
नव लख तारा रे ईश्वर चमकी रह्या, तेकी मखऽ अँगिया सिलावऽ ॥४॥
चाँद सूरज रे ईश्वर उँगी रह्या, तेकी मखऽ टुक्की लगावऽ ॥५॥
वासुकी नाग रे ईश्वर देखई रह्यो, तेकी मखऽ वेणी गुँथावऽ ॥६॥
बड़ी हट वालई रे गोरल गोरड़ी ॥"

अर्थ है—"हे पतिदेव! यह जो आकाश में तेजस्वी 'शुक्ल का तारा' चमक रहा है न, उसकी मुझे 'बिन्दी' गढ़वा दो।

"और वह जो ध्रुव की ओर उत्तर में बरसने योग्य बदली छाई हुई है उसकी मुझे 'चूनर' रँगवा दो।

"और सुनो, स्वर्ग में कड़कने वाली 'बिजली' की उसमें 'मगजी' लगवा देना।

"साथ ही, आकाश में चमकने वाले लाखों तारों' की मुझे 'कंचुकी' सिलवा देना, जिसके अग्रभाग में 'सूर्य' और 'चन्द्र' जड़े हों।'

इस तरह बादल और बिजली से लगाकर, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र से युक्त अपनी चूनर और कंचुकी बनवाने का आग्रह करने के बाद वह एक और चीज की माँग करती है। और वह है अपने केशों में गूँथने के लिये चोटी का आग्रह। लम्बे चिकने केश स्त्री के सौन्दर्य के साथ ही साथ सौभाग्य के सूचक भी रहे हैं।

अतएव वह कहती है—"हे पतिदेव! वह जो इठलाता और बल खाता हुआ वासुकी नाग दीख रहा है न, उसकी मुझे वेणी गुँथवा दो।

इसपर उसका पति कहता है—"हे गौर वर्ण रनु! तू बड़ी हठवाली है।"

रूप-वर्णन की दृष्टि से गनगौर का एक गीत अद्वितीय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में स्त्री-सौन्दर्य के लिये जिन उपमाओं का जिक्र किया है। उनमें से अधिकांश इस गीत में ज्यों की त्यों मिलती हैं। गीत के बोल हैं—

"थारो काई काई रूप बखाणूँ रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारी आंगल ई मूँग की सेंगल ई रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारी सिर सूरज को तेज रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारी नाक सुआ की रेख रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारा डोला लिबू की फाँक रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारा दात दाड़िम का दाणा रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारा होंठ हिंगुल की रेख रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारा हात चम्पा की डाल रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारा पाँय केल का खम्ब रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ
थारो काई काई रूप बखाणूँ रनुबाई, सोरठ देस सी आई ओ

—हे देवी, तुम्हारे किन-किन रूपों का वर्णन किया जाय? तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो। तुम्हारे हाथ की अंगुलियाँ मूँग की फली जैसी पतली, नरम, और कोमल हैं, और तुम्हारा चेहरा सूर्य की तरह देदीप्यमान है। तुम्हारी नाक सुवे की चोंच की तरह अत्यन्त ही नुकीली है और तुम्हारी आँखें नीबू की फाँक की तरह गोल, बड़ी और चमकीली हैं। तुम्हारे दाँत अनार के दानों की तरह सुन्दर हैं। तुम्हारे ओंठ हिंगुल सदृश लालिमा लिये हुए हैं। तुम्हारे हाथ चम्पे की टहनी की तरह पतले और नाजुक हैं, और तुम्हारे पाँव केले के खम्ब की तरह गोल, चिकने और सीधे हैं। हे देवि! तुम्हारे किन-किन रूपों का वर्णन किया जाय! तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो।

इन गीतों में हमारे पारिवारिक जीवन की भी अत्यन्त सुन्दर कल्पनाएँ पिरोई गई हैं। लोकगीतों में आज से न जाने कितने समय पूर्व ही एक ऐसे स्वप्न की कल्पना की गयी है जिसमें सुन्दर प्रतीकों के सहारे हमारे पारिवारिक जीवन का दर्शन कराया गया है। बात यह होती है कि रनु एक दिन स्वप्न में १४ वस्तुएँ देखती है और सुबह उठने पर अपने पति से उनका अर्थ पूछती है। वह प्रश्न करती है—

"सूति न हो धणियेर, सपनो हो देख्यो, सपना को अरथ बताओ भोला धणियेर,
मानसरोवर मनँऽ सपना मँऽ देख्यो, भर्यो तुर्यो भंडार मनँऽ सपना मँऽ देख्यो।
बहेती सी गंगा मनँऽ सपना मँऽ देखी, भरी तुरी बावड़ी मनँऽ सपना मँऽ देखी,
श्रीवण तीज मनँऽ सपना मँऽ देखी, कड़कती बिजलुई मनँऽ सपना मँऽ देखी।
गोकुल को कान्हो मनँऽ सपना मँऽ देख्यो, तरथरतो बिच्छू मनँऽ सपना मँऽ देख्यो,
गुलाब को फूल मनँऽ सपना मँऽ देख्यो, झपलक दियो मनँऽ सपना मँऽ देख्यो।
कवला री केल मनँऽ सपना मँऽ देखी, बाड़ ऊपर की वांजुली मनँऽ सपना मँऽ देखी,
पेला वालई नार मनँऽ सपना मँऽ देखी, ऊगतो सो सूरज मनँऽ सपना मँऽ देख्यो।
सपना को अरथ बताओ भोला धणियेर॥"

—हे प्रिय, रात सपने में मैंने मानसरोवर देखा, और भरा-पूरा भंडार देख बहती हुई गंगा देखी, और भरी-भूरी बावड़ी देखी, सावन की तीज हरियाली देखी अ कड़कती हुई बिजली देखी. गोकुल का कन्हैया देखा, बिच्छू देखा, गुलाब का फूल देख और झिलमिलाता हुआ दीप देखा, केले का वृक्ष देखा और बाँझ गन्ने का खेत देख पीला वस्त्र ओढ़े हुए स्त्री देखी और उगता हुआ सूर्य देखा। हे पतिदेव ! मुझे सपने क अर्थ बताइये।

इसपर पति कहता है—

"मानसरोवर थारो पिता हो रनादेव, भर्यो-तुर्यो भण्डार थारो ससरो हो रनादेव।
वहेती सी गंगा थारी माय हो रनादेव, भरी तुरी बावड़ी थारी सासू हो रनादेव,
सरावण तीज थारी बहेण हो रनादेव, कड़कती बिजलई थारी नणंद हो रनादेव।
गोकुल को कान्ह थारो भाई हो रनादेव, तरवरतो बिच्छू थारो देवर हो रनादेव,
गुलाब को फूल थारो बालो हो रनादेव, झपलक दीवलो थारो जवँई हो रनादेव।
कवला की केल थारी कन्या हो रनादेव, वाड़ ऊपर की वांजुली थारी दासी हो रनादेव,
पेला वालई नार थारी सौत हो रनादेव, ऊगतो सो सूरज थारो स्वामी हो रनादेव।
सपना को अरथ बतायो भोला घणियेर ॥"

—हे रनु ! मानसरोवर तुम्हारे पिता हैं और बहती हुई गंगा की तरह निर्मल तुम्हारी माँ हैं। भरा हुआ भंडार तुम्हारे ससुर हैं और भरी हुई बावड़ी तुम्हारी सास हैं। सावन की तीज तुम्हारी बहिन है और कड़कती हुई बिजली तुम्हारी ननद है। गोकुल का कन्हैया तुम्हारा भाई है और बिच्छू तुम्हारा देवर है। गुलाब का फूल तुम्हारा पुत्र है और चमकता हुआ दीप तुम्हारा जँवाई है। आँगन की केल तुम्हारी कन्या है और बाँझ गन्ने का खेत तुम्हारी दासी है। पीला वस्त्र ओढ़े हुए स्त्री तुम्हारी सौत है और उगते हुए सूर्य की तरह देदीप्यमान तुम अपने पति को समझो।

इसपर रनु कहती है—हे मेरे पतिदेव ! तुमने सपने का सही अर्थ बता दिया।

लोक-कहावतें

लोक-कहावतों में मानव-जीवन का शताब्दियों का अनुभव गुथा है। अनादिकाल से मनुष्य की जो जीवन-यात्रा चली आ रही है उसमें जहाँ भी रुकावट आई या उसने अपने मार्ग में विजय पाई है वहीं उसने अपने अनुभवों को अत्यन्त ही बारीक ढंग से काव्यमयी भाषा में सँजोकर रख दिया है।

उसके ये अनुभव ही, सुन्दर भावों से शृङ्गार कर, कल्पना के पंखों पर सवार हो, पैनी सूझ के सहारे, लोक-कहावतों के रूप में देश-विदेश की यात्रा करते आये हैं।

मनुष्य पर जब भी संकट आया है या वह अपने आप में उलझ गया, तब वह इन कहावतों का छोर पकड़कर सहज ही उससे पार हो गया है।

इनमें थोड़े, सरल शब्दों में 'जी' की ऐसी बात कही गयी है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यही वजह है कि जिससे ये पुस्तकों में नहीं, वरन् सदियों से मनुष्य की

जबान पर तैरती आई हैं और अनेकों बार इनमें कटु सत्य कहे जाने पर भी, इनके सौन्दर्य पर मुग्ध रह जाना पड़ता है।

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इनके बारे में ठीक ही कहा है कि 'लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूझ हैं। इनका आशय पाकर मनुष्य की तर्क-बुद्धि, शताब्दियों के संचित ज्ञान से आश्वस्त-सी बन जाती है, और उसे अँधेरे में उजाला दिखाई पड़ने लगता है। वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में तुरन्त समर्थ बन जाता है।'

देखिये एक निमाड़ी लोक-कहावत में परदेशी की प्रीति का कैसा सही चित्र उतार कर रख दिया है। कहावत है—

'परदेशी की प्रीत, नऽ फूस को तापणो।'

—परदेशी की प्रीति फूस से तापने की तरह है। वह फूस की आग की तरह एक क्षण भभक कर दूसरे क्षण समाप्त हो जाती है।

इसी तरह, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में बड़ी ही सुन्दर बात कही गयी है। कहा है—

'लुगई खऽ शरम, नऽ आदमी खऽ मरम।'

'स्त्री की शोभा शर्मीली होने में और पुरुष की मर्मीले होने में है। जो आदमी 'मरम' की बात न जाने, वह भी क्या आदमी है ?

व्याह-सगाई के समय काफी छान-बीन के बाद जिससे भी रिश्ता कायम कर लिया जाता है, उसके बारे में कहा जाता है—

'बिंद्या ते हुया मोती' अर्थात् जिसे चुन लिया वही मोती है।

सन्ध्या के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सुन्दर कहावत है। चूँकि साँझ अपनी गोद में गरीब और अमीर सबको समान विश्राम देती आई है, इसीलिये उसके बारे में कहा गया है—

'सबकी माय साँझ'—अर्थात सन्ध्या सबकी माँ है।

ये कहावतें प्रकृति-वर्णन से ओतप्रोत हैं। एक बरासती कहावत में माँ के परोसने से स्वाती के बरसने की तुलना की गयी है। कैसी विराट स्नेहिल कल्पना है—

'मघा को बरसणो, नऽ माय को परसणो।'

—मघा में मेह ऐसे बरसता है मानो माँ भोजन परोस रही हो।

गाँव के लोग प्रतीकों की भाषा में बोलने के अभ्यस्त रहे हैं! जब किसी गरीब के मकान पर बड़ा आदमी कब्जा कर लेता है तो वह ऐसे लगता है मानो—

'उधई का बावल्ला मँऽ भुजंग' अर्थात दीमक के बने बनाये घर में साँप घुस गया हो।

जब मालिक से नौकर ज्यादा अन्याय करने लगता है तो कहते हैं—

'सूरज सी रेत ज्यादा तपजऽ' अर्थात सूरज की किरणों से भी रेत ज्यादा तपती है।

इस तरह निमाड़ी लोक-साहित्य लोक-जीवन से तदाकार हो निरन्तर गतिशील रहा है।

भोजपुरी लोकगीतों में आभूषण-वर्णन

गणेश चौबे

भोजपुरी लोकगीतों में आभूषणों की भूरिशः चर्चा है। कन्या निरीक्षण के समय बर का जेठा भाई वधू के लिए विविध भांति के आभूषण लाता है। विवाह और प्रिय-मिलन के अवसर पर वर-वधू तथा अन्य स्त्रियों के शृङ्गार में आभूषणों का उपयोग होता है। देवर, ननदोई या अन्य कोई प्रेमी अपनी भावज, सरहज या प्रेयसी को आभूषणों का उपहार देकर उसे रिझाने की चेष्टा करता है। वियोगिनी स्त्रियों की दृष्टि जब आभूषणों पर पड़ती है तो उसका प्रियतम उसे स्मृत हो उठता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर ननद, धाय, नाइन या बखाइन नेग के रूप में आभूषण माँगती हैं। स्त्री या पुरुष स्वतः भी किसी के कोई महत्वपूर्ण काम करने पर पुरस्काररूप में आभूषण देने की इच्छा व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं, जहाँ आभूषणों की चर्चा है।

भोजपुरी की एक कहावत है, जिसका अर्थ है कि आभूषण संपत्ति का शृङ्गार और विपत्ति का आहार है।

भोजपुरी लोकगीतों में आभूषणों के लिए अधिकांशतः 'गहना' शब्द का ही व्यवहार हुआ है जो ग्रहण—धारण का अपभ्रंश है। इसके लिए कहीं-कहीं भूसन (भूषण) आया है और अभरन (आभरण) शब्द भी आया है। एक गीत में बारहों आभरण की चर्चा है। पर ये बारह आभरण कौन-कौन से हैं, इस पर गीत मौन है। संभवतः ये बारह आभरण हैं—नूपुर, किंकिणी, वलय, कंकण, अंगूठी, अंगद, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और सीसफूल, जिनका उल्लेख हम प्राचीन ग्रंथों में पाते हैं। जायसी ने भी पद्मावती के शृंगार-वर्णन में बारह आभरणों का उल्लेख किया है—'बारह अभरन करै सो साजू'। इनमें कंठश्री, बिरिया और सीसफूल की चर्चा भोजपुरी लोकगीतों में नहीं पायी जाती।

लोकगीतों में आभूषणों के वर्णन दो रूपों में मिलते हैं। प्रथम तो, वे सरस गीत हैं जिनमें किसी आभूषण का नाम स्वाभाविक रूप में आता है और वह बिना किसी हेर-फेर के उसी रूप में गाया भी जाता है। दूसरी कोटि में वे छोटे-छोटे गीत आते हैं जिनमें किसी एक ही आभूषण का नाम रहता है और स्त्रियाँ उनमें केवल आभूषण को बदल-बदल कर गीतों को दुहराती रहती हैं। ऐसे गीतों से श्रोता उबने लगते हैं। पर आभूषणों के प्रति स्त्रियों का आकर्षण इतना प्रबल है कि वे सभी प्रमुख आभूषणों के नाम उन गीतों के साथ जोड़े बिना दम नहीं लेतीं।

(क) पैरों के आभूषण

भोजपुरी लोकगीतों में पैर के आभूषणों में नूपुर, बिछिया, पावट, पैरी, गोड़ाई, घुँघरू और चूरा की चर्चा है।

(१) नूपुर—इसे पाजेब, पायल या पैंजनी भी कहते हैं। जेवनार की एक गारी में नूपुर के लिए 'नेउर' शब्द आया है। नूपुर में छोटी-छोटी घंटिकाएँ लगी रहती हैं, जिससे वह झंकृत होता रहता है। भोजपुरी लोकगीतों में अनेक स्थलों पर नूपुर की चर्चा कलात्मक रीति से आयी है। कन्या प्रातःकाल अपने पति के साथ बिदा होने वाली है और वह अपने पिता से कहती है कि मेरी माँ मेरे बिदा हो जाने के बाद आंगन में मुझे पाकर और मेरे पैरों की बिछिया और नूपुरों की झंकार न सुनकर घूम-घूम कर रोयेगी। यथा—

"अङना भूलिए भूलि आमा मोर रोइहेन,
कँतहू ना देखिहेन बिछिया नूपुरवा झनकार॥"

एक दूसरे गीत में बनी नामक गृहदेवी के नूपुरों के रुनझुन बजने की चर्चा है—'गोड़ के नेपुरवा हे बनी रुनझुन बाजहीं'। एक बरसाती में किसी स्त्री के नूपुरों की झंकार से हल में जुते हुए लाल बैलों के डरने की बात कही गयी है—

"खाले खाले भइया ना हर जोतें, ऊँचे-ऊँचे भउजी ना जाय।
बाजेला पाँव के नेपुरवा, त गोला बएला हरकेला॥"

इसकी तुलना हम कादंबरी के उस प्रसंग से कर सकते हैं, जिसमें भवन-दीर्घिका के कलहंसों के नूपुरों की रुनझुन से कोलाहल होने का उल्लेख है[1]। वस्तुतः संस्कृत एवं प्राचीन साहित्य में नूपुरों की झंकार की बहुशः चर्चा है। चौदहवीं शताब्दी के मैथिल कवि विद्यापति के एक पद में नूपुरों के झुन-झुन बजने का उल्लेख है—'नूपुर झुन-झुन आबोल कान'। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने सीता के रूप-वर्णन के संबन्ध में बालकांड में लिखा है—

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभि दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही॥"

रोपनी के एक झूमर में पायल की चर्चा इस प्रकार है—

"पटना के ककना गोरी का सोभे ला ए सँवरों का सोभे ला।
गोरिआ धीरे पाँव ढारू ना पएलवा बाजेला।
पएलवा के बजवा सुन छएलवा जागेला॥"

सतरहवीं शताब्दी के प्रमुख शृङ्गारी कवि बिहारी लाल के एक दोहे में पायल का उल्लेख इस रूप में है—

"किय हाइलु चित चाइ लगि, बजि पाइल तुव पाइ।"

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत का कला-विलास, प्र० सं०, पृ० ३९।

सोलहवीं सदी के अवधी के कवि जायसी के पदमावत में भी पायल का उल्लेख है—

"चूरा चाँद सकल उजियारा। पायल बीच करहि झनकारा॥"

इसी प्रकार पैंजनी की चर्चा सोहरों में और तुलसीदास के द्वारा राम के बाल-रूप के वर्णन में पायी जाती है। यह भी संभव है कि नूपुर, पायल और पैंजनी की बनावट में पहले कुछ सूक्ष्म भेद भी रहा हो, जिसका आज हम निर्णय नहीं कर पाते।

(२) बिछिया—यह पैर की पाँचों अंगुलियों में पहनने का एक आभूषण है, जिसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी रहती हैं और उनसे रुनझुन शब्द होता है। भोजपुरी लोकगीतों में बिछिया की बहुशः चर्चा है। जेवनार की गालियों में समधिन की बिछिया के रुनझुन बजने की बात आयी है। समधिन जब मतवाले हाथी के समान चलती है तो उसके पैरों की बिछिया झंकृत हो उठती है—'बेठ चले जइसे मएगर हाथी, बिछिआ के झनकारे जी)।

एक दोहरे में संभोग के वर्णन में बिछिया के झंकृत होने पर पुत्र को अपनी माता से झिड़कियाँ सुननी पड़ती हैं—

"खटिआ उठे मचामर्चा, बिछिआ के झनकार।
हम तो से पूछी ले हे पुता, दुनु में कौन गँवार॥"

इसकी तुलना हम बिहारी के निम्नाङ्कित दोहे से कर सकते हैं—

"करत कोलाहल किंकिनी, मौन गह्यो मंजीर।"

एक झूमर में कहा गया है कि बिछिया की जिन्दगी खाक के समान है, क्योंकि वह काँदो-कीच के बीच लोटती है और गले के हार की जिन्दगी सुखमय है, क्योंकि वह वक्षस्थल के मध्य में लोटता है—

"खाक जिनगी वोही बिछिआ, जो लोटेला जहाँ काँदो कीच।
सुख जिनगी केही हारवा, जे लोटेला छतिए का बीच॥"

प्राचीन साहित्य में बिछिये के उल्लेख के अभाव में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रामीण रसिकों का यह मनोहारी आभूषण विदग्ध जनों को प्रभावित नहीं कर सका और अब तो यह देखने को भी नहीं मिलता है।

(३) पावट—यह खिल्ली के ऊपर पहनने का आभूषण है, जिसमें काँसे या चाँदी की पट्टी में घुँघरू लगे रहते हैं। भावज के शृङ्गार-वर्णन के सिलसिले में एक झूमर में इसकी चर्चा है—

"गोड़ महावर पावट बिछिया,
लिलरा जड़ाव के टिकुलिआ रे साँवलिआ।
सभवा बइठल मोरा देवर हो बढ़इता,
मोरा जोगे लाईं चमकिलिआ रे साँवलिआ॥"

(४) झंझरी—यह पैर में पहनने का खोखला कड़ा है, जिसे 'झाँझ' भी कहते हैं। इसमें कंकड़ के छोटे-छोटे टुकड़े डाले गये रहते हैं, जिससे झनन-झनन शब्द

होता है। इस आभूषण की चर्चा एक बिलौकी की गारी में है और विभिन्न मानव-व्यापारों के समय इसके ध्वनित होने की बात कही गयी है।

(५) गुजरी—हिन्दी के कोशकारों ने इसे कलाई में पहनने की पहुँची बतलाया है, पर सारन जिले से प्राप्त जेवनार की एक गारी में ज्ञात होता है कि यह पैर में पहनने का कोई आभूषण है (पाँव सरीखे गुजरिआ हो लाल)। अब इस गहने का प्रचलन नहीं है।

(६) पैरी—भोजपुरी के सोहर में कहा गया है कि प्रसव वेदना से व्याकुल स्त्री अपने सोये हुए पति को चूरा और पैरी फेंक कर मारती है और वह चौंक कर उठता है[1]। थारुओं के एक गीत में भी पैरी की चर्चा है—देवसुन रे देवरा गाड़े जोगे पएरी, हाय री! साजन री!। डा० उदयनारायण तिवारी ने 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' नामक अपने ग्रंथ में छोटा नागपुर का एक लहसुवा गीत दिया है, जिसमें पैरी की चर्चा है। वस्तुतः पैरी घुट्टी में पहनने का काँसे का बना हुआ एक गहना था, जो आकृति में खोल के समान होता था। वयस्कों की पैरी की ऊँचाई आठ-नव इंच और व्यास चार इंच होता था और दोनों पैरों की पैरी का वजन पाँच सेर होता था। इसे मुख्यतः छोटी जाति की स्त्रियाँ ही पहनती थीं। लेखक ने इस भीमकाय और बेढंगे गहने को आज से तीस वर्ष पहले एक चमारिन के पैर में देखा था; परन्तु अब यह गहना शायद किसी अजायबघर में ही देखने को मिले।

(७) चूरा—चूरा पैर के कड़े को कहते हैं और इसका दूसरा नाम गोड़ाई या गोड़हरा है। इसे बच्चे और स्त्रियाँ पहनती हैं। जायसी ने पद्मावती के शृङ्गार-वर्णन में इसका उल्लेख किया है—'पायन्ह पहिरै पायल चूरा'।

देवरिया जिले से प्राप्त सीता-वनवास के एक सोहर में लवकुश के जन्म की मंगल सूचना देने वाले नाई को नेग देने की चर्चा इस प्रकार है—"दसरथ दिहलनि घोड़वा, कोसिला रानी पटोरवा न हो। आरे लछुमन लटिपटि पगिआ, रमइआ दोनो टोउर हो। हजमा, गुन औगुन सीता बकसें, अजोधेआ फेर आवहुँ हो।"

'टोउर' टोरा का विस्तृत रूप प्रतीत होता है, जिसका अर्थ डा० फैलन ने अपने कोश में घुंघरू का दाना दिया है। श्री सीता देवी ने 'धूलधुसरित मणियों' में 'टोड़रिआ' नामक एक आभूषण का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ दिया है—पैरों का कड़ा। संभवतः टोउर का अर्थ पैर का कड़ा ही है।

(८) घुंघरू—लोकगीतों में इसके लिए 'घुघुर' शब्द आया है। इसका प्रयोग राम के बालरूप के वर्णन में इस प्रकार है—

"राम के गोड़वा घुघुरवा बहुत नीक लागेला।
आरे नान्हे गोड़े चलत बकइआ, देखत राजा दसरथ॥"

---

१. चूरा फेंकि मरलों पयरिया फेंकि मरलों।

उपर्युक्त आभूषणों के अतिरिक्त पाँवशंकर, अंगूठी और अंगूठा पैरों में पहने जाते थे, जिनकी चर्चा भोजपुरी लोकगीतों में नहीं मिलती है।

(ख) कटि के आभूषण

(९) करधनी—कटि के आभूषणों में करधनी सबसे अधिक प्रचलित है, जिसे प्राचीन साहित्य में 'किंकिणी' या 'क्षुद्र घंटिका' कहा गया है। इसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी रहती हैं, जो हिलने डोलने से ध्वनित होती हैं। संस्कृत और हिन्दी का शायद ही ऐसा कोई प्राचीन कवि होगा जिसने शृङ्गार-वर्णन के समय इस आभूषण का उल्लेख न किया हो। विद्यापति ने संभोग-शृङ्गार का वर्णन करते हुए लिखा है—

"किंकिनी किनि-किनि कंकन कन-कन घन-घन नूपुर बाजे।"

जायसी ने पद्मावती के रूप-वर्णन में कहा है—कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। तुलसीदास ने राम के बालरूप का शृङ्गार-वर्णन निम्नाङ्कित शब्दों में किया है—

"कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान नहीं देखा।।"

उसकी तुलना हम लोकगीतों के निम्नाङ्कित वर्णन से कर सकते हैं—

"बाबू का डांड़े करधनिआ, देखत निक लागेला।
ओर, पाँव में बाजे पैंजनिआ, अजब छवि छाजेला।।"

(१०) डँड़कसी—भोजपुरी की एक लोकगाथा दयालसिंघी की नायिका मरउती (संभवतः मृगावती या मृणालवती) जिन आभूषणों को पहनती है, उनमें एक डँड़कसी भी है। यथा—

"गोड़ में नेपुरवा लगावता महाजना के छोकड़ी।
डँड़कसिआ चढ़ावता महाजना के छोकड़ी।
काने तरिवन चढ़ावता महाजना के छोकड़ी।
लटे लटे मोतिया गुहावता महाजना के छोकड़ी।"

(ग) अंगुली के आभूषण

(११) अँगूठी—भोजपुरी लोकगीतों में अँगुली के अनेक आभूषणों की चर्चा है, जिनमें अँगूठी या मुद्रिका (भोजपुरी अँउठी या मुनरी) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। लोकगीतों में यह गजमुक्ता के हार के साथ साहित्यिक अभिप्राय (लिटरेरी मोटिव) के रूप में बार-बार प्रयुक्त हुआ है। किसी सुन्दरी के प्रेम का भिखारी उसे अंगूठी देने का लालच दिखलाता है। कोई युवती किसी युवक को किसी कार्य के लिये अंगूठी का पारिश्रमिक या उपहार देना चाहती है, तो रूप का लोभी युवक उसे अस्वीकार कर यौवन या रात्रिवास की याचना करता है। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि ऐसे व्यक्तियों को प्रायः झिड़कियाँ खानी पड़ती हैं और कभी-कभी तो युद्ध तक की नौबत आ जाती है। पति पत्नी के शृङ्गार-वर्णन में भी पति के हाथ में मुद्रिका है तो पत्नी के गले में हार। हम वर के सोने की अंगूठी में लाल नग जड़ा हुआ पाते हैं। उपर्युक्त कथनों के समर्थन में

लोकगीतों से कतिपय पंक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। यमुना के तट पर राधा और कृष्ण के प्रेम-व्यापार संबंधी एक बरसाती गीत की कुछ पंक्तियाँ हैं—

"तोहरा देबों सुनर मुनर, हो अवरो गजमुकुता के हार।
आजु के रइनिआ राधे हो बसिजा, भोरे उतारब पार।
अइसन बचन रउरा जनि बोली सुनिहेन कंस भुआल।।"

एक अन्य बरसाती गीत में किसी बटोही और किसी वियोगिनी का संवाद नीचे दिया जाता है—

"तोहरा के देबों सुनर मुनर हो, मोतिअन माँग भरी।
छोड़ि द बिअहुआ के आस, तूहुँ मोरा साथ चली॥
आगि लगइबो सुनर मुनर हो, मोतिअन माँग भरी।
मरबो बटोहिआ के लात, बिअहुआ के आस करी।।"

नेटुआ के नाच के गीत में एक उदाहरण और लीजिए—

"रामजी का सोभे ला हाथ के मुनरिका, बाबू लछुमन हो।
सीता का सोभे ला गले हार, बाबू लछुमन हो।।"

कतिपय लोकगीतों में अंगूठी का उपयोग अभिज्ञान या सहिदानी के रूप में हुआ है। पति अपनी पत्नी से यह कहकर परदेश जाता है कि जब तुम महल उठाओगी और पुत्र उत्पन्न करोगी तभी मैं घर वापस आऊँगा। पत्नी गणिका का वेश बनाती है और अपने पति से मिलती है; पर उसका पति उसे नहीं पहचानता है। विदा के समय वह अपने पति से अंगूठी उपहार रूप में लेती है। वह अपने पति से प्राप्त द्रव्य से महल उठाती है और ईश्वर की कृपा से उसे पुत्र भी उत्पन्न होता है। बारह वर्ष के बाद उसका पति घर लौटता है और वह महल के आँगन में खेलते हुए बालक को देखकर क्रोधित हो उठता है। परन्तु जब वह अपनी अंगूठी को पहचानता है तब कहीं अपनी पत्नी के सतीत्व पर विश्वास करता है।

स्त्रियाँ पाँचों अंगुलियों में अंगूठी पहनती हैं। जिन अंगूठियों में कांच के टुकड़े जड़े रहते हैं, उन्हें आरसी कहते हैं। लोकगीतों में आरसी की बहुत कम चर्चा मिलती है। तलहथी के पृष्ठ भाग में स्त्रियाँ 'हाथ संकर' पहनती हैं, पर उसकी चर्चा लोकगीतों में नहीं पायी जाती।

(घ) पहुँचे के आभूषण

(१२) कंगना—हाथ के अगले भाग (पहुँचे) के आभूषणों में 'कंगन' या 'कँकना' (कंकण) सबसे अधिक लोकप्रिय है। गीतों में इसकी बार-बार चर्चा आती है। पूर्व देश से एक सुनार आता है और कंगन तैयार करता है। उसे पहनकर कोई नवयुवती बाजार चलती है और रास्ते पर मोर की केका सुनकर उसे प्रियतम की याद आ जाती है। यथा—

"पुरबहिं देसवा से अइले सोनरिआ, कोइलिआ धन्हकावेला रे अँगनवा।
कोइलिआ धन्हकावेला सोनवा लहरावेला, रवे रवे जोरेला रे कँगनवा॥

ककना पहिरि हम चललो बजरिआ, बनवा पइसि बोलेला बन के मोरवा ।
मोरवा जे बोलेला जिआ ललचावेला, कब बाबा करिहें रे गवनवा ।।"

देश के अन्य जनपदों की भाँति भोजपुरी भाषी क्षेत्र -(काशी जनपद) में भी भतीजे के जन्म के अवसर पर ननद अपनी भावज से बधावा पाने की अधिकारिणी होती है । यथा,

"बाला जे देबो ननद, ब्रासलेट लगा के देबो ।
ननदा कँगना जे रतन जड़ाव के, तोहे पहिरा के देबो ।।"

प्राचीन साहित्य में कंगन की भूरिशः चर्चा है, जैसा कि पूर्व प्रसंगों में दिए गए उद्धरणों से ज्ञात है । जायसी ने भी कंगन का उल्लेख किया है—'औ पहिरै कर कंगन कलाई' ।

उपर्युक्त गीत में बाला और ब्रासलेट का भी नाम आया है । बाला संस्कृत के 'वलय' का अपभ्रंश रूप है । यह आभूषण प्राचीनकाल से आज तक समान रूप से लोकजीवन में परिव्याप्त है । गीत में प्रयुक्त 'ब्रासलेट' शब्द ध्यान देने योग्य है । ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक शिक्षा से प्रभावित किसी ललना ने इस पुराने गीत को नये आभूषण से सुसज्जित कर दिया है । मूल गीत में संभवतः पहुँची प्रयुक्त रही होगी, जिसे अपदस्थ कर ब्रासलेट ने अपना आसन जमा लिया है ।

(१३) पहुँची—पहुँची का प्रयोग बहुत कम गीतों में पाया गया है । जेवनार की गारी में रत्नजड़ित सोने की पहुँची का वर्णन इस प्रकार है—

"गोरी गोरी बँहिया रतन करे पहुँची, सोनन करे पहुँची ।
मोतिअन माँग सँवारि आहो लाल ।।"

तुलसीदास ने राम के बालरूप के वर्णन में कहा है—

'पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनि माल हिये ।'

(१४) चूड़ा—भोजपुरी लोकगीतों में अनेक स्थलों पर शंख की चूड़ियों की चर्चा है । इससे तो यही अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय काशी जनपद में भी शंख की चूड़ियों का बहुत प्रचार रहा होगा । किसी मालिन में अनुरक्त प्रियतम के प्रति प्रेयसी की उक्ति है—

'फोरबो में शंकर चुरिला, मेटबो कजरवा नु रे ।
हतबो में बाला जिअरा, रउरे हजुरवा नु रे ।।'

सोनकेशी कन्या की कथा में देशभ्रमण के लिए तत्पर राजकुमार को रोकने के लिए उसकी नवागत पत्नी ने कुछ इसी प्रकार के शब्द कहे हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि यह उक्ति भोजपुरी लोकसाहित्य में साहित्यिक अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त होती आ रही है ।

भोजपुरी लोक-गीतों में सोने और काँच की चूड़ियों की भी चर्चा है । काँच की चूड़ियाँ विविध रंगों की हुआ करती थीं ।

(१५) बँहलोई—गीतों में हमें 'बँहलोई' नाम के एक आभूषण की चर्चा मिलती है । डा० गियर्सन ने बँहलोली नामक एक कलाई के गहने का उल्लेख किया है । अब तो इसकी स्मृति लोकगीतों में ही अवशिष्ट है, जो इस प्रकार है—

'गोड़वनि सोभे ला रुनझुन बिछिया, हाथ के बँहलोई।'

(१६) हथउरा—इसी प्रकार विवाह के एक गीत में 'हथउरा' नामक आभूषण की चर्चा है—

'हाथ हथउरा प्राभु हे बाबा देलेन, सिकड़ी लछुन देवर।
अवध सिन्होरवा प्राभु हे रउरे देनी, इहे तीनु अभरन।'

इससे पता चलता है कि हथउरा हाथ का (पहुँचे का) कोई आभूषण रहा होगा।

(ङ) बाँह के आभूषण

(१७) बाजूबन्द—बाजूबंद, टँडिया, मठिया, जोसन, भभुट्टा, बांक अनंत, विजायठ और बज्जुला आदि आभूषण आज से पच्चीस-तीस वर्ष या इससे भी पहले प्रचलित थे, जो बाँह में पहने जाते थे। आश्चर्य की बात है कि इनमें से केवल एक ही आभूषण —बाजूबंद की चर्चा लोकगीतों में पायी जाती है। एक गीत में ऐसा प्रसंग आया है कि पटने की एक दूकान पर एक ओर तो बाजूबंद और बिछिया बिक रही है और दूसरी ओर झूलनी और तरिवन। यथा—

"एक ओर बिकाला राम बाजूबंद बिछिआ
एक ओरी ए राम झुलनी तरिवनवा।"

(च) वक्षस्थल के आभूषण

अनेक आभूषण ऐसे हैं जो गले में पहने जाते हैं, पर वे वक्षस्थल तक लटके रहते हैं और उसे विभूषित करते हैं। लोकगीतों में ऐसे बहुत-से आभूषणों की चर्चा है, जिन पर नीचे प्रकाश डाला जाता है।

(१८) दरपन—(दर्पण) यह स्त्रियों के गले से वक्षस्थल तक लटका रहने वाला आभूषण है, जिसके मध्य में एक छोटा-सा आइना लगा रहता है और उसकी सुरक्षा के लिये उसपर ढक्कन भी लगा रहता है। यह आभूषण स्त्रियों को अपना मुख देखने के लिये सर्वदा सुलभ रहता है। निम्नांकित गीत में सोने के दरपन में मुख देखने की बात कही गई है।

"काँस कइ चूरा पेन्हों, रूपे कइ कँगना,
सोना रे कइ निरखन दरपनवा।"

एक दूसरे गीत में तीनकोनी दरपन की चर्चा है—

"सासू पेन्हिहे बाजूबन गोतिन पेन्हिहे बिछिआ।
हम धनी तीनकोनी दरपनवा॥"

(१९) गजमोती के हार—इसे लोकगीतों में मोतीमाला या गजमुक्ता का हार भी कहा गया है। जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, लोकगीतों में गजमुक्ता के हार का प्रयोग साहित्यिक अभिप्राय के रूप में होता आ रहा है।

गले का हार यद्यपि गले में पहने जाने वाले किसी भी हार के लिये प्रयुक्त हो सकता है, तथापि गीतों के परीक्षण से मालूम होता है कि यह गजमुक्ता के हार के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है।

"आगित लगइबो सँवरो डाला भरि सोनवा ए हरी।
बजर परो गलेहार ए हरी॥"

कोई स्त्री ननद को अपने गले का हार इसलिये दे देना चाहती है कि वह उसके प्रियतम के हृदय में बार-बार गड़ जाता है—

"हरवा ना पेन्हों सँइआ का गड़ि-गड़ि जाय।
गोड़ तोहे लागिले छोटकी ननदिआ,
हरवा तू ले लेहुँ।"

(२०) एकावरी का हार (एकावली)—लोकगीतों में एकावरी के हार की चर्चा नहीं है, परन्तु इसका उल्लेख अनेक लोक-कथाओं में मिलता है। एकावली मोतियों का एक हार है, जिसके मध्य में एक बड़ा नीलमणि रहता है। इस हार का वर्णन कालिदास ने मेघदूत में किया है और अजन्ता के चित्रों में इस प्रकार के हार प्रदर्शित हैं।

(२१) तीलरी—तीलरी से अभिप्रेत है वह हार जिसमें तीन 'लर' हो। इसी प्रकार पाँच लड़ के हार को 'पँचलरी' और सात लड़ के हार को 'सतलरी' कहते हैं। लोकगीतों में केवल 'तीलरी' की चर्चा है। कोई कृष्णांगी एवं बंध्या स्त्री अपने पति से 'तीलरी' पहनने की अभिलाषा प्रकट करती है तो वह उत्तर देता है—

"जब तूहुँ काली कलौंजर, दोसरे कोइलि रंग।
धनिआ, तुमको तिलरिआ नाहीं सोभे, तिलरिया कहाँ पाएबा॥"

इस व्यंग्य से व्यथित होकर उसकी पत्नी सूर्य की उपासना करती है। उसे पुत्र होता है। पति तब अपनी रूष्ट पत्नी को मनाता है और वह तीलरी से अलंकृत करता है।

(२२) मोहरमाला—मुस्लिम शासनकाल के सोने के सिक्कों की माला या सोने के नक्काशीदार दानों से बनी माला को 'मोहरमाला' कहते हैं। एक सोहर में इसकी चर्चा इस प्रकार है—

"गोड़ में सोभेला गोरइया, गले मोहरमाला नु हे।
बाबू दूर खेलन मति जाहुँ, खोजन तोहरा के जइहें हो॥"

(२३) बजर बूटी—पश्चिम चंपारन से प्राप्त एक गीत में 'छाती पर बजर के बूटी' प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः किसी पत्थर की माला के लिये आया है। यथा—

"हथवा में सोना के अँगुठी, नकवा में बुलाक।
छतिया पर बजर के बूटी, लहँगा में सेजाफ॥"

(२४) कंठा—बड़े-बड़े दानों से गठित सोने की वह माला है जिसे स्त्रियाँ पहनती हैं। इसकी चर्चा कतिपय गीतों में पायी गयी है।

(२५) सिकड़ी—कुछ गीतों में सिकड़ी की चर्चा है, जिसे स्त्री और पुरुष दोनों पहनते हैं।

(२६) हैकल—यह लोकप्रिय आभूषणों में एक है, जिसकी चर्चा गीतों में मिली है।

(च) कंठ के आभूषण

(२७) हँसुली—कंठ के आभूषणों में हँसुली सबसे अधिक प्रचलित है और इसकी चर्चा प्रायः सभी ऐसे गीतों में मिलती है, जिनको स्त्रियाँ गहनों के नाम जोड़-जोड़ कर लंबा बनाती हैं।

(२८) चंपाकली—इस आभूषण की चर्चा शाहाबाद जिले से प्रायः पुत्रजन्म के अवसर पर गाये जाने वाले एक गीत में पायी जाती है। भावज कहती है—

"ननदिश्रा माँगे फूलझरी, ननदिश्रा माँगे चंपाकली।"

(२६) फूलझरी—संभवतः यह भी कंठ का ही आभूषण है। इसकी पहचान नहीं हो सकती है।

(३०) जोगनी—यह कंठ का ही आभूषण है, जिसका पता पूर्वी चंपारन के कायस्थ परिवार से प्राप्त एक खिलौने के गीत से चलता है—

"तालरी ना लेवेगी 'जोगनी' ना लेवेगी, लेबों गले के हरवा।"

कंठ के अन्य आभूषण कठेसर (कंठश्री) और तबक की चर्चा मुझे लोकगीतों में नहीं मिली है।

(छ) कर्णाभूषण

कर्णाभूषणों में तरिवन और कुण्डल की भूरिशः चर्चा हमें लोकगीतों में मिली है।

(३१) तरिवन (ताटंक)—तरिवन के लिए लोक-प्रचलित शब्द 'तरकी' है; परन्तु लोकगीतों में यह सर्वत्र 'तरिवन' के नाम से ही अभिहित है। यह आकृति में कर्णफूल के समान होता है, परन्तु इसमें एक लम्बी कील रहती है, जो कपोलों को स्पर्श करती रहती है। कतिपय लोकगीतों में वियोगिनी स्त्रियों के तरिवन से रस चूने की चर्चा है—

"मलइत रहलों में सोने के दरपनिया,
से चुइ रे गइले एक तरिवन के ठोपवा।
का तूहूँ तरिवन चुअल अँगनवा,
से हरि रे बिनु सेज भइले सपनवा॥"

कविवर बिहारी लाल के दोहों में तरिवन का उल्लेख अनेक स्थलों पर है—'तरिवन कनक कपोल दुति, बिच बीचही बिकान'।

(३२) कुण्डल—राम के सौन्दर्य-वर्णन में हमें कुण्डल की चर्चा मिलती है। अनेक गीतों में उपहारस्वरूप दोनों कानों के लिए सोना देने की बात मिलती है, जिससे कुंडल का ही बोध होता है—

(क) "बाबू का कान्हे कुंडलिया देखत नीक लागेला।
और गले बैजन्ती के माला, अजब छबि छाजेला॥"

(ख) "कान्हें कुण्डल गले तुलसी के माला, सँवरे बरन सिरोराम।"

(ग) "खाये लगि देवउ देवरा घीव रे मलइया मोर देवरवा हो,
पिअने को मधुरी मँगाय।
अवरो जे देवउ देवरा कान दुनु सोनवा मोर देवरवा हो,
टोपिया में रतन जड़ाय॥"

(३३) कनफूल (कर्णफूल)—इस आभूषण का जो भाग कान में पहना जाता है, उसे 'कनफूल' और जो भाग बाहर लटका रहता है, उसे 'झूमक' कहते हैं। गीतों में अधिकतर हम झूमक की ही चर्चा पाते हैं—

"पहिले नेवत ननदोसी किहा भेजलों,
से ले अइले दुनु कान झूमकवा रे गेनवा।
झूमका पहिरि ननदोसी के जगवली,
से बाड़ा सुनर बाजेला झुमकवा रे गेनवा॥"

राम के कानों के कर्णफूल का उल्लेख तुलसीदास ने निम्नलिखित रूप में किया है—

"कानन्हि कनकफूल छबि देहीं।
चितवत चितहीं चोरी जनु लेहीं॥"

(३४) चिरइया—चिड़िया की आकृति के बने आभूषण को चिरइया कहते हैं। इस आभूषण की चर्चा केवल एक गीत में मिली है, जो इस प्रकार है—

"गोरी बिटिउआ अँग पातर,
मुँहवा के डुरहुर हो।
ललना, उनका काने सोने के चिरइआ,
चिरइया झकमक करे हो॥"

प्राचीन ग्रन्थों में मकराकृति के कान के भूषण का प्रचुर उल्लेख है।

(३५) बारी—कान के ऊपरी भाग में मुसलिम महिलाओं द्वारा पहनी जाने वाली बालिओं को 'बारी' कहते हैं। इसकी चर्चा एक जाँतसारी में मिली है। कोई सिपाही किसी पनिहारिन से पानी पिलाने के लिये अनुरोध करता है और वह बहाना करती है कि मैं जाति की जुलाहिन हूँ। इसपर सिपाही प्रश्न करता है—

"जब तुहुँ बाड़ू ए सँवरो! जाति के रे जोलहिनिआ।
कान दुनु बरिआए सँवरो मोहि के बतावहुँ॥"

(ज) नाक के आभूषण

लोकगीतों में नाक के आभूषणों में बेसर और झुलनी की बहुशः चर्चा है। बेसर सोने का एक चौखुटा गहना है, जिसमें बहुत-सा छोटा-छोटा 'बचवा' लगा रहता है। झुलनी आकार में बेसर से बहुत छोटी होती है।

(३६) बेसर—लोकगीतों में बेसर की चर्चा बड़े मोहक ढंग से की गयी है। निम्नांकित गीत में प्रेयसी का यह अभियोग है कि उसकी बेसर प्रियतम की जुल्फों में फँस जाती है—

"एक पिया अँगिआ के पातर,
दोसरे रखवले झुलुफिआ।
झुलुफी में अँटके बेसरिया,
काहे के रखबल झुलुफिआ।।"

इसी प्रकार एक अन्य गीत में प्रियतम के गलमोंछे में और एक गारी में लवंग की डाली में बेसर के उलझने की चर्चा है। एक झूमर में परदेशी पति के आगमन पर स्त्री के एक हाथ से किवाड़ खोलने और दूसरे हाथ से अपने प्रेमी से प्राप्त बेसर छिपाने का वर्णन है। बेसर का उल्लेख हम बिहारी के दोहों में भी पाते हैं—

"नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुक्तन के संग"

(३७) झुलनी—लोकगीतों में झुलनी के सम्बन्ध में अनेक सरस उक्तियाँ हैं, जिनमें एक नीचे दी जाती है। रूप के लोभी देवर से भावज अपने लिए झुलनी लाने को कहती है—

"का तूहुँ देवरु नजरी लगवल, मोरा जोगे झुलनी बेसाहहुँ रे साँवलिआ।
झुलनी पहिरि हम सुतलों ओसरवा ठोंकि देले बजर केंवार रे साँवलिआ।।"

लोकगीतों में बुलाकी और नथ की भी चर्चा मिलती है।

(झ) सिर के आभूषण

(३८) मोती—सिर के आभूषणों में एक मात्र टीके की चर्चा हमें लोकगीतों में मिली है। सिर के बालों में मोती गूथने की चर्चा बहुत-से गीतों में है, जिनमें से एक नीचे दिया जाता है—

"गोरी का लटिअन चुएला गुलाब, त मोतिअन माँग भरी।
गोरी का ओंठ देखो कवला के फूल त दँतवा अनार के कली।।"

(ञ) वस्त्रों में टाँके जाने वाले आभूषण

(३९) अँचर पल्लो—साड़ी के आँचल के कोने पर चाँदी का त्रिभुजाकार पत्तर टाँका जाता था, जिसे 'अँचर-पल्लो' (अंचल-पल्लव) कहते थे।

(४०) मनोरी—किनारों पर अनेक मनोरियाँ टाँकी जाती थीं, जो छोटी-छोटी कटोरियों के आकार की होती थीं। इसी प्रकार साड़ी के छोर पर घंटी के आकार की 'झबिया' बाँधी जाती थी। इनमें केवल झबिया की चर्चा लोकगीतों में मिलती है। लँहगे में घुंघरू लगाने की भी चर्चा लोकगीतों में मिलती है। इनके अतिरिक्त मोतियों से अंचल को अलंकृत करने का भी वर्णन लोकगीतों में प्राप्त होता है।

"धनिया का दँतवा में मिसी सोभे, अँचरा में मोती सोभे।
ललना, सेजिआ पर अजब बहार, त देखत सोहावन।।"

उपसंहार

प्रस्तुत निबन्ध में भोजपुरी लोकगीतों में वर्णित आभूषणों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जो चंपारन, सारन, मुजफ्फरपुर, शाहाबाद, देवरिया और बलिया जिले के

लोकगीतों में पाये जाते हैं। इन आभूषणों की संख्या पचास के आस-पास होगी। मेरा मत है कि यदि गीतों का विधिवत् अध्ययन किया जाय तो बहुत से अज्ञात आभूषणों का पता चल सकता है। इन आभूषणों में नूपुर, बिछिया, अंगूठी, कंगन, बाजूबन्द, हँसुली, गजमुक्ता के हार, तरिवन और बेसर गीतों में बहुशः प्रयुक्त हैं। सिकड़ी मोहरमाला और अंगूठी को छोड़कर, जिन्हें पुरुष भी पहनते हैं, अन्य आभूषण स्त्रियों में ही प्रचलित हैं। अधिकांशतः वे ही आभूषण अधिक लोकप्रिय है, जो झंकृत होनेवाले हैं। कतिपय सम्पन्न व्यक्तियों को छोड़कर जनसाधारण की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह सोने के आभूषणों का व्यवहार कर सकें। ऐसी हालत में अधिकांश आभूषण काँसे या चाँदी के बने होते हैं। यदि कोई स्त्री लोकगीतों में वर्णित सभी आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत करे तो उसका सारा शरीर गहनों से जकड़ जायगा और उनके भारी बोझ को भी वह बड़ी कठिनाई से ढो सकेगी। इनमें बहुत-से आभूषणों का प्रचलन अब बन्द हो गया है और उनकी जानकारी वयोवृद्ध व्यक्तियों से ही प्राप्त की जा सकती है। सन् १८८५ ई० में प्रकाशित डा० ग्रियर्सन के 'बिहार पिज़ेण्ट्स लाइफ' में भी उस समय के प्रचलित आभूषणों की एक सूची उपलब्ध है। फिर भी, लोकगीतों में कुछ ऐसे आभूषणों की चर्चा है, जिनकी जानकारी अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त की जा सकती है।

मागधी लोकगीतों में जन-चेतना

सम्पत्ति आर्याणी

प्रस्तुत विषय पर कुछ कहने के पूर्व 'मगध' और 'मागधी' पर प्रकाश डालना आवश्यक मालूम पड़ता है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में बिहार तीन भागों में विभाजित था—मगध, अंग और विदेह। मगध के विषय में विशेष संकेत वहाँ नहीं मिलते। वैदिक साहित्य के प्राचीन अंग ऋग्वेद संहिता में 'कीकट' नाम से जिस प्रदेश की निन्दित चर्चा मिलती है, उसका बहुत-कुछ संकेत मगध से ही है। बहुत सम्भव है कि उस समय तक यह देश आर्येतर जातियों का निवास-स्थान रहा हो और मध्य एशिया से आगत आर्य जाति की सभ्यता का आलोक वहाँ न पहुँचा हो। मगध में व्यवस्थित रूप से आर्य राज्य की स्थापना का उल्लेख वाल्मीकीयरामायणम् के अध्याय ३२ में मिलता है। इस राज्य के प्रथम संस्थापक आर्यवसु थे, जिसके बाद चन्द्र-गुप्त और महान् अशोक जैसे सम्राटों की समृद्ध परम्परा में यह शासित होता रहा। सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में मगधप्रदेश का अत्यधिक महत्त्व है।

जहाँतक मगध की भाषा 'मगही' का प्रश्न है, इसका उद्भव मागधी प्राकृत एवं मागधी अपभ्रंश से हुआ। डा० ग्रियर्सन ने भाषातत्त्व के आधार पर, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं[1] को तीन उपशाखाओं (बाहरी, मध्य एवं भीतरी) में विभक्त किया है। इनके अन्तर्गत छः भाषा-समुदाय हैं। मागधी या मगही भाषा बाहरी उप-शाखा के पूर्वी समुदाय के बिहारी वर्ग के अन्तर्गत आती है। यद्यपि बिहारी, उड़िया, बंगाली और आसामी सभी मागधी प्राकृत से प्रसूत भाषाएँ हैं, तथापि केवल मगही का ही मगधी के आधार पर नामकरण हुआ। मगही के स्थान पर मागधी का प्रयोग प्रायः शिक्षित वर्ग में प्रचलित है। प्रस्तुत निबन्ध में भी मगही के स्थान पर प्रायः 'मागधी' का ही व्यवहार हुआ है।

मगही भाषा प्राचीन मगध तक ही सीमित नहीं है। यह समस्त गया जिला, सम्पूर्ण पटना जिला एवं हजारी बाग में बोली जाती है। इनके अतिरिक्त पलामू, मुँगेर, भागलपुर के बड़े भागों में मगही का प्रचार है। छोटा नागपुर के उत्तरी पठार में भी मगही का ही प्रचलन है। वर्तमान समय में मगही बोलने वालों की संख्या अनुमानतः

१. लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग १, खण्ड १, पृ० १२०।

६८ लाख है। प्रस्तुत विवेचन उक्त जिलों में फैले हुए निर्दिष्ट विशाल जन-मंडल के जीवन में मुखर होने वाले लोकगीतों पर ही आश्रित है।

लोकगीतों की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। जहाँ तक 'लोक' के अर्थ का प्रश्न है, यह विराट् समाज की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के १०।६० मन्त्र में कहा गया है—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।"

अर्थात् वह (लोक) विराट् पुरुष है, जिके हजारों सिर, हजारों आँखें एवं हजारों पैर हैं। अतः लोक साधारण जनसमाज ही है, जिसमें यह विराट् कल्पना समाहित हो सकती है। भूत-भविष्य-वर्तमान में प्राप्य मानव-समाज की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, जिनमें उनके आचार, व्यवहार, मान्यताएँ, धार्मिक आस्थाएँ तथा भौतिक द्वन्द्वों के आधार पर उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ आदि सभी सम्मिलित हैं, इस शब्द में अन्तर्भुक्त हैं। चूँकि इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है और अभिव्यक्ति का साहित्य से, अतः लोकाभिव्यक्ति जब अपने काव्यात्मक गुणों के कारण आलोचित होती है, तो उसे 'लोक-साहित्य' की संज्ञा दी जाती है। लोक-साहित्य की अर्थगत व्याप्ति बड़ी ही विशाल है। इधर इसे कुछ नए अभिधेय भी मिले हैं, जैसे—'लोकज्ञान', 'लोकवाङ्मय', 'लोक-विद्या', 'लोकायन', 'लोकवार्ता', आदि। इन दिनों हिन्दी में 'लोकवार्ता' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है, और जिसका श्रेय श्री कृष्णानन्दन गुप्त एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। अंगरेजी में इसे फॉकलोर कहते हैं। फॉकलोर की परिभाषा विभिन्न मनीषियों ने विभिन्न रूपों में की है, जिनमें बोटकिन की परिभाषा द्रष्टव्य है—

'लोकवार्ता बहुत दूर की या कोई बहुत प्राचीन वस्तु नहीं है, बल्कि वह हम लोगों के बीच ही एक गतिशील एवं जीवित सत्य है। कारण, यहाँ अतीत वर्तमान से, और अशिक्षित समाज उस समाज से कुछ कहना चाहता है, जो अपने मौलिक, मौखिक एवं लोकतांत्रिक संस्कृति के मूल और प्रारम्भिक रूपों के मनन से अपनी कलाओं की जड़ तक पहुँचना चाहता है और जिससे उसकी कलाओं के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश पड़ता है।'[1]

डॉ० श्याम परमार ने लोक-साहित्य को लोकवार्ता का एक महत्त्वपूर्ण भाग स्वीकार किया है, जिसके अन्तर्गत स्त्रियों, पुरुषों एवं बच्चों का गद्य-पद्यमय साहित्य आता है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय इसका पद्यमय साहित्य ही है, जिसका पर्याय लोकगीत है। 'लोकगीत' या फॉकसॉग का विश्लेषण करते हुए डा० कुंजबिहारी दास कहते हैं—

1. Folklore is not Somethig far away and long ago, but real and living among us.....Here the past has something to say to the present and bookless world, to a world that likes to read about itself, concerning our basic, oral, and democratic culture as the root of arts and as a side light on history.

'लोकगीत उन व्यक्तियों के जीवन का उन्मुक्त प्रवाह है, जो सभ्यता के बाह्याचारों से मुक्त, विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कालयापन कर रहे हैं'[1]।

लोकगीतों की कई-एक विशेषताओं की ओर उक्त परिभाषा से ही संकेत मिल जाता है। संक्षेप में हम उन्हें यों देख सकते हैं—लोकगीतों की पदावली उन्मुक्त रूप में निसृत होती है, जिसपर पिंगल आदि का प्रभाव नहीं होता। एक सादगी, एक सरलता उसके पोर-पोर में व्याप्त रहती है। साहित्यिक कृत्रिमताओं का उनमें सर्वथा अभाव होता है। दैनन्दिन जीवन में दृष्टिगोचर होनेवाली वस्तुएँ उनमें प्रचुर रूप में प्रकाशित रही हैं। गणनात्मक प्रवृत्तियाँ भी दिखाई पड़ती हैं। भारतीय परिवार के सम्बन्धों एवं सभ्यता-संस्कृति का उनमें सच्चा विश्लेषण प्रस्तुत रहता है। विशेषकर जातीय, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परम्पराओं की चर्चा तो उनमें अक्षुण्ण रूप में प्राप्त होती है। विभिन्न कालों में जनता की मनोदशा कैसी रही, इसकी उनमें अच्छी झाँकी मिलती है। लोकगीतों में पुनरावृत्ति खूब होती है, जो प्रभावोत्पादकता का कारण बन जाती है। बहुत-से गीत प्रश्नोत्तर के रूप में होते हैं, जिससे उनमें एक नाटकीयता आ जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें काव्यात्मक गुणों का प्राचुर्य देखा जा सकता है। रस-परिपाक में तो महाकवियों की सूक्तियाँ भी इनके सामने फीकी जान पड़ती हैं। फिर, उनका संगीत अपने आप में पूर्ण होता है। इन्हें बिना किसी वाद्ययन्त्र की सहायता के ही झूम-झूम कर गाया जा सकता है। इनमें मनोभावों को तरलित कर देने की अद्भुत शक्ति होती है। मागधी लोकगीतों में इस संगीतात्मकता की बहुत प्रधानता दीख पड़ती है। इनमें एक अजीब लोच होती है, जो सहज ही किसी भी व्यक्ति के मन को आकर्षित कर सकती है।

लोकगीतों की भावराशि का अनुमान लगाना कठिन है। महाकाव्यों की तरह उनकी भाव-दिशाएँ सीमित एवं उचित-अनुचित के भेदोपभेद से आबद्ध नहीं होतीं। साधारणतया जीवन का प्रत्येक क्षण उनमें मूर्त हो उठा है। जीवन में सुख-दुःख, राग-विराग के क्षण हमेशा आते रहते हैं। इन क्षणों में मनुष्य की भावनाएँ पूर्ण वेग में होती हैं और हर्ष या शोक के नैसर्गिक उद्गारों में फूट पड़ती हैं। सुख-दुःख के इन क्षणों की न तो सीमा ही कूती जा सकती है, न उनका वर्गीकरण ही किया जा सकता है। वे अनन्त हैं और उनके रूप भी अनन्त हैं। प्राकृतिक सुषमा को देखकर, जहाँ मानव-मन विमुग्ध होता है, वहाँ उसकी भयंकरता से संत्रस्त भी होता है। दैनन्दिन की बहुत-सी घटनाएँ, आनन्द, शोक, विस्मय, अश्रु, कम्प आदि का उद्रेक करनेवाली होती हैं। फिर, सामाजिक परिवेश में भी कई एक घटनाएँ ऐसी आती हैं जो मानव-मन को तरलित एवं उसकी भावनाओं को गतिशील कर देती हैं। ऐतिहासिक घटनाओं एवं राजनीतिक परिवर्त्तनों आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। लोकगीतों में मानव-जीवन का कोई

---

1. A Folk-song is a spontaneous outflow of life of the people that live in more or less primitive Condition autside the sphere of sophisticated influences.

भी पहलू अछूता नहीं छूटा है। राल्फ विलियम्स कहते हैं—"लोकगीतों को न तो प्राचीन की संज्ञा दी जा सकती है, न अर्वाचीन की ही। यह तो उस जंगली वृक्ष की भाँति है, जिसकी जड़ें अतीत की भूमि में काफी गहरी गई हुई हैं और जो हमेशा नई शाखें, नए पल्लव और नए फल पैदा करता रहता है।"

लोकगीतों की भावराशि की इस विशालता का कारण 'जन-चेतना' का अपनी सम्पूर्णता के साथ उनमें प्रतिबिम्बित होना ही है। 'जन-चेतना' की अर्थगत गहराइयाँ काफी समृद्ध हैं। संस्कृत एवं पालि ग्रन्थों में मानव-समाज का बोध 'जन' शब्द से किया गया है, अतः समष्टि-बोधक अर्थ-वैभव इसमें पर्याप्त परिमाण में है। 'चेतना' शब्द हमारे संस्कारजन्य एवं अनुभव-प्राप्त दोनों ज्ञानों का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों के आधार पर ही संस्कृति एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव एवं विकास होता है। किसी भी जन-समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का परिचय उसके लोक-साहित्य में प्रचुरता से मिल सकता है। इन सबके परिवेश में मैं 'मागधी लोकगीतों में जन-चेतना' को देखने का प्रयास करूँगी।

उपर्युक्त दृष्टि से यदि मागधी लोकगीतों का भावात्मक विभाजन किया जाय, तो संक्षेप में निम्नांकित वर्ग प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१. लोक-जीवन का सामाजिक धरातल
२. प्रेम सम्बन्धों के विश्लेषण
३. मार्मिक प्रसंग
४. धार्मिक आस्थाएँ
५. जड़-चेतन का समन्वय
६. मनोरंजन के उपकरण।

१. लोक-जीवन का सामाजिक धरातल

लोकगीतों में लोक-जीवन का सामाजिक धरातल बड़ा ही पुष्ट होता है। कारण, लोकगीत, लोक-जीवन का स्वर है। सामान्य जन-जीवन की झाँकी जैसी लोकगीतों में मिलती है वैसी महाकाव्यों में नहीं। कारण, महाकाव्य निश्चित परिपाटी पर चलते हैं। उनके नायक को तो धीरोदात्त ही रहना है। भला वे महलों को छोड़ टूटी मड़ैया में कैसे रह सकेंगे। शिष्ट कवियों की एक निश्चित लकीर होती है, जिसके वे फकीर बने रहते हैं। पर लोक-कवि जन-जीवन की एक इकाई होता है, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वाभाविक क्षमता होती है। उस अभिव्यक्ति में वही कुछ आ पाता है, जो उनके जीवन में होता है—और वह अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी। लोक-कवि पुरुष एवं नारी दोनों के मनो-जगत् से अपनी जानकारी प्रकट करता है। उसकी अनुभूति की पैनी पकड़ अद्भुत है। वह अपनी अनुभूति को सजाने एवं सबल बनाने के लिये वह वायवीय कल्पनाओं एवं निराधार उड़ानों को प्रश्रय नहीं देता। वह उन्हीं वस्तुओं को ग्रहण करता है, जो उनके दैनन्दिन जीवन के परिवेश में आती हैं। उदाहरणार्थ एक छोटा गीत-चित्र देखिये—

"जलवा में चमकऽहई चिल्हवा मछलिया ,
रैनिया चऽमऽकई तरवार ।
सभवा में चमकई सामी के पगड़िया ,
हुलसऽहई जियरा हमार ।।"

अर्थात् जल में जिस प्रकार चेल्हुआ मछली चमकती है, रात्रि में जिस प्रकार पैनी तलवार चमकती है, वैसे ही सभा में मेरे स्वामी की पगड़ी चमक रही है, जिसे देख-देख मेरा जी हुलस रहा है ।

यह एक नारी का कथन है । अपने स्वामी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में खूब बढ़ा-चढ़ाकर देखने-सुनने की अभिलाषा प्रत्येक नारी के अन्दर स्वाभाविक रूपेण होती है । पारस्परिक स्नेहबन्धन में यह भावना खूब रहती है । ऊपर की पंक्तियों से यह कितनी संपूर्णता के साथ ध्वनित होती है । इस गीत में उपमाएँ कितनी सार्थक हैं । 'चिल्हिवा' अपनी प्रतीकात्मक योजना के अनुसार, उसके स्वामी के स्वस्थ स्फूर्तिमय शरीर की ओर संकेत करती है एवं 'तरवार' वीरत्व की ओर । 'हुलसऽहई' शब्द सात्विक प्रसन्नता का बोध कराता है, जो परमानन्द सहोदर होती है ।

नारी की आकांक्षाओं-अभिलाषाओं को जानने का सबसे अच्छा माध्यम लोकगीत ही हैं । कारण, लोकगीतों के सृजन में अधिकांशतः देवियों का ही हाथ होता है । ये आकांक्षाएँ-अभिलाषाएँ विवाह, पुत्र-प्राप्ति, सतीत्व-रक्षा, वैभव-प्राप्ति आदि सभी से सम्बद्ध होती हैं । इस क्रम में जिन लोकगीतों में अतिशयोक्ति की व्यंजना होती है, उसमें बड़ा ही चमत्कार आ जाता है । जैसे--

"पिया-पिया रटि के पियर भेलइ देहिया ,
लोगवा कहै पांडुरोग ।
गाँमा के लोगवा मरमियो न जानइ ,
भेलइ न गँवनवाँ मोर ।"

अर्थात् पिया-पिया रटते-रटते मेरी देह पीली पड़ गई, परन्तु लोग इसका कारण पांडु रोग बतलाते हैं । वे मर्म की बात क्या जानें कि इसका मूल कारण अब तक 'गवनवाँ मोर' न होना ही है ।

इन लोकगीतों में घरेलू जीवन की बड़ी ही विशद् अभिव्यक्ति मिलती है । कहीं सास-वधू के कर्कश सम्बन्ध प्राप्त होते हैं, तो कहीं भाई-बहन का उत्कट पारस्परिक प्रेम । कहीं माँ का वात्सल्य प्रेम छलछला आया है, तो कहीं भावज-ननद का परिहास । मागधी में भावज-ननद के हास-परिहास को लेकर अगणित गीत मिलते हैं, जिनकी सरलता दर्शनीय है । इनमें जीवन के उन चित्रों का भी समावेश है, जो करुणा से आप्लावित होते हैं, जैसे बाल-विधवा का विलाप । उदाहरणार्थ एक गीत में लड़की पूछती है कि 'माँ ! तुमने सबकी शादी कर दी, पर मेरी कब करोगी ?' इसपर माँ उत्तर देती है—

"तोहरो बियहली गे मैना बाले जब पनमाँ ।
तोहरो वियहुआ मरिये गेलउ रे कि ।।"

—'ऐ बेटी ! तुम्हारी भी शादी मैंने की थी, जब तुम काफी छोटी थी; पर तुम्हारा पति कुछ दिन बाद ही मर गया।' सुनकर बेचारी की क्या दशा हुई होगी उसकी अभिव्यक्ति शक्ति के बाहर है। अन्त में रुआँसी होकर वह कहती है :—

"हमरा वियहुआ मइया मरिए जे गेलन।
उनकर चैतियो दे बतलऽइए रे कि।।"

—'ऐ माँ! मेरे स्वामी तो मर ही गये। अब क्या सोचना ? पर उनकी चिता कहाँ सजी थी, उसे ही जरा बतला दे।' माँ दुःख के साथ उत्तर देती है—

"सावन भदउआ के अलउ बूढ़ी धधिया।
ओकरे में गेलउ चैतिया दहिये रे कि।।"

—'प्यारी बेटी! पिछले सावन-भादों में जोरों की बाढ़ आयी थी, उसी में उनकी चिता बह गई।' यह सुनकर बेटी को ऐसा लगा जैसी उसकी छाती फट जायगी। उसने स्वामी का दर्शन तक न किया था, मिलन की कथा तो दूर रही। फिर वह रोते-रोते कहती है—

"रोइए-रोइए मैना मइया से बोललइ।
अगे चैतिया दहि गेलइ धरतिया न कि।।"

—प्यारी माँ, खैर चिता तो बह ही गई, पर वह धरती तो नहीं बही, जिसपर चिता सजी थी ?

अन्तिम पंक्ति में कितनी पीर और पातिव्रत्य की भावना संजोयी है, कहने की आवश्यकता नहीं।

लोककवि ने उन चित्रों को भी अंकित करने में संकोच नहीं दिखाया है, जो सुन्दर नहीं कहे जा सकते। मागधी गीतों में सौतियाडाह, सास-वधू के कटु सम्बन्ध, ननद-भावज की प्रतिद्वन्द्विता तथा छलना आदि के अनेक चित्र उपलब्ध हैं। इन गीतों में मागधी जनता के आर्थिक पक्ष का भी विश्लेषण बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इस परिवेश में आनेवाले मागधी गीतों में और भी कई खूबियाँ नजर आएँगी। उदाहरणार्थ एक प्रस्तुत है—

"कहाँ गेलें सोमर, चोरी करे बाबू!
मारो खैलें सोमर? बड़ी मार बाबू!
दबकले न हल सोमर? दीया बरलक बाबू!
भगलें न हल सोमर? सब छेंक लेलक बाबू!
फिन जयमें सोमर? लत छुटलइ बाबू!"

उपर्युक्त गीत में सबसे पहले तो उनका नाटकीय संवाद हमारा मन मोह लेता है। फिर एक घटना-विशेष के प्रत्येक अंग का जितना विश्लेषण हुआ है, उसका क्या कहना! साथ ही जन-साधारण की दैन्य स्थिति का भी बड़ा ही करुणापूर्ण संकेत मिलता है।

जन-जीवन में फैलती राष्ट्रीय चेतना का द्योतन भी मागधी लोकगीतों में हुआ है। भारत के इतिहास-निर्माण में मगध का महत्त्व सर्वविदित है। स्वातन्त्र्य-भावना की जो

नई लहर चली, उसने मागधी जनता को भी खूब प्रभावित किया। 'जाँत के गीतों' में इसकी बड़ी ही मर्मस्पर्शी झाँकी मिलती है। एक गीतांश प्रस्तुत है—

"हम तो टिकवा गढ़ाइब, ओ पर जयहिन लिखाइब।
हम तो नेकलस गढ़ाइब, ओ पर जयहिन लिखाइब॥"

रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं के विश्लेषण के लिए तो ये गीत लासानी है। जन-मन अपने मूल रूप में प्रशिक्षित नहीं होता। वह नाना लोक-परम्पराओं और अन्ध-विश्वासों से आक्रान्त होता है। मागधो समाज में विवाह के अवसर पर वर के द्वारा दहेज माँगने की प्रथा प्रचलित है। लोकगीतों में इसके अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—

"दुलहा मलीन है, काहे मन मैल हो।
दुलहा मलीन है, घड़िया के वास्ते,
घड़िया भी देबइ, चैनमा भी देबइ।"

परिस्थिति विशेष की जैसी सूक्ष्म व्याख्या लोकगीतों में मिलती है, वैसी बिरले ही महाकवि कर सकते हैं। लोककवि अपनी आँखों से जो कुछ देखता है उसे अपने टूटे-फूटे शब्दों में व्यक्त करता है। लोकगीतों में उपदेश की भावना कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है, जिसका उल्लेख एक मागधी लोकगीत में इस प्रकार हुआ है—

"कुस के बढ़निया गे बेटी, सिरहनवा लेके सुति हऽऽ।
भोरे भिनुसरवा गे बेटी, अँगना, घर, बहरी हऽऽ॥"

२. प्रेम सम्बन्धों के विश्लेषण

यौन सम्बन्धों का विश्लेषण अन्यान्य लोकगीतों की तरह मागधी लोकगीतों में भी खूब हुआ है। इनमें शृङ्गार के सहज-स्वाभाविक चित्र मिलते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"फूल लोढ़े गेली ससुर फुलवरिया,
बगिया में पियवा अयलन हमार।
एक खोइँछा लोढ़ली, दूसर खोइँछा लोढ़ली,
बगिया में फुलवा देलन छितराय।"

—मैं फूल तोड़ने के लिये ससुरजी की फुलवारी में गयी थी कि वहीं मेरे 'पिया' आ गये। एक 'खोइँछा' फूल मैंने तोड़ा, फिर दूसरा खोइँछा खोल दिया और उपवन में सारे फूल बिखेर दिए। शृङ्गार रस का कितना सरस स्वाभाविक चित्रण है। यों तो इस प्रकार प्रेम-सम्बन्धों का विश्लेषण करने वाले चित्रों का सब प्रकार के गीतों में प्राधान्य है, पर विवाह के गीत, विशेषकर कोहबर के गीत, कथागीत एवं ऋतु-गीतों में ये विशेष रूप से पाये जाते हैं। कोहबर के गीतों में प्रायः नव-विवाहिता दम्पती के हास-परिहास चित्रित होते हैं। नवेली वधू के भावों का वर्णन लोककवि बड़े मनोयोग से प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ एक गीत का भावार्थ प्रस्तुत है। वधू अपने पति से कह रही है

कि मैं तो इलायची के फूल लूंगी, मैं तो लवंग के फूल लूँगी। पति पूछता है—मैं उसे पाऊँगा कहाँ? वधू कहती है—प्यारे! पंछी का रूप धर कर बाबा जी की फुलवारी में चले जाना और फूल ले आना। भौंरे का रूप धर कर चले जाना और रस चूस कर ले आना। वर चला गया। उसने एक फूल तोड़ा, फिर दूसरा फूल भी। इतने में वेष बदल कर उसका साला पहुँच गया। उसने लवंग की 'गाँछ' में उसे बाँध दिया और सोने की छड़ी से अपने 'जीजा' को मारने लगा। पति ने रोते हुए अपनी प्रिया को पत्र लिखा—प्राणप्यारी! प्राणों के लाले पड़ गये हैं। लवंग की 'गाँछ' में बाँध दिया गया हूँ, जरा अपने भाई को भेजकर छुड़ा दो न! हँसते हुए वधू ने पत्र लिखा—ऐ माली! अपने चोर को छोड़ दो। उसे सोने की छड़ी से मत मारो।

वर-वधू के श्रृंगार-चित्रों के अलावा, अन्य लोकगीतों के समान ही मागधी में भी प्रेमी-प्रेयसी के प्रणय सम्बन्धों का विश्लेषण करने वाले बहुत-से गीत मिलते हैं। काव्य में इसके दो पक्ष मिलते हैं—संयोग एवं वियोग। मागधी में ऐसे बहुत गीत मिलते हैं जिनमें संयोग एवं विप्रलंभ श्रृंगार की स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। संयोग का एक चित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। विप्रलंभ शृङ्गार के चित्रों में विरह-सम्बन्धी भावनाएँ मुखरित हो उठी हैं। उनमें वह कृत्रिमता नहीं है, जो प्रायः महाकाव्यों में दीख पड़ती है। विरहिणी के उच्छ्वास, उसकी तड़प, उसकी सम्पूर्ण वेदना इनमें साकार हो उठी हैं। एक गीत में विरहिणी कहती है—

"जहिया से पिया मोरा गैलऽ तू बिदेसवा,
बलमुआ हो! तोरा बिन अँखियों न नींद।
जहिया से पिया मोरा गैलऽ तू बिदेसवा,
बलमुआ हो, कइली न सोरहों सिंगार।
कहियो न सजौली हम फुलवा सेजरिया,
बलमुआ हो सपना भे गेल मोर नींद।"

कितना सात्विक प्रेम है! जब से प्रेमी गया, प्रेयसी की आँखों की नींद सपना हो गई। उसने कभी सोलहों सिंगार नहीं किये, न फूलों से सेज ही सजायी। उसे इस बात का रह-रहकर अफसोस होता है कि काश! वह जान पाती कि उसका प्रियतम परदेश चला जायेगा, तब तो किसी भी हालत में उसे जाने नहीं देती—

"एहो हम जनितो पियवा, जयथिन परदेसवा हो।
बाँधितो हम रेशम क डोर, रेशम बंधनमा छिया,
टुटिए फाटिए जयतइ बाँधितों हम अँचरा क कोर।"

—यदि मैं जानती कि प्रिय परदेश जायेगा, तो मैं उसे रेशम की डोर से बाँध रखती। पर रेशम की डोर तो टूट-फूट जाती है, अतः मैं उसे अपने आँचल के 'कोर' में बाँध लेती। विरह की अवधि लम्बी है, सूनापन उसे काटने दौड़ता है। धीरे-धीरे मेघ अम्बर पर छा जाता है। भादों की झर-झर झरती गीली अँधेरी रात! काले पट पर

रह-रह कर विद्युत की रेखाएँ कौंध उठती हैं और बादलों की गड़गड़ाहट बेचारी विरहिणी के हृदय को दहला देती है—

"भादो हे सखी ! रहनि भेयामन, दूजे अँधेरिया के रात हे।
ठनका जे ठनके रामा, बिजुरी जे चमके, सेई देखि जियरा डेराय हे।"

—ऐ सखि ! भादों का सूनापन मुझे काट खाने को दौड़ता है, फिर, यह अँधेरी रात ! आह ! जब भी ठनका ठनकता है, जब भी चपला चमकती है, मेरा हृदय काँप-काँप जाता है। प्रतीक्षा की घड़ियाँ उसके लिए असह्य हो रही हैं। प्रिय से अब तक कुछ संदेशा नहीं आया है, जिससे रह-रहकर उसका जी अंदेशे के डोले में डोलने लगता है। वह स्वयं संदेशा भेजने को व्याकुल है, पर क्या करे ? कैसे भेजे—

"कथिए फारि-फारि, कोरा कगदवा पिया,
कथिए केरा मसिहान हे।
कथिए चीरि-चीरि कलमा बनाई पिया,
कथिए से लिखि दुई बात हे।"

"आँचर फारि-फारि कोरा कगदवा प्यारी,
नयने कजरवा मसीहान हे।
अँगुरी चीरि-चीरि कलमा बनाई प्यारी,
लिखि नऽ देहु दुई बात हे।"

—नायिका कहती है कि क्या फाड़कर कागज बनाऊँ ? स्याही कहाँ से लाऊँ ? क्या चीर कर कलम बनाऊँ ? बताओ न कैसे दो टुक बात लिखूँ ? सखी उत्तर देती है—आँचल फाड़कर कागज बना ले नयनों में लगे काजल की स्याही घोल ले और अँगुलियाँ चीरकर कलम तैयार कर ले, और फिर दिल की सारी बातें लिख।

३. मार्मिक प्रसंग

जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब हमारे मनोविकार पूर्णतः गतिशील होते हैं। काव्य में इन्हीं मनोविकारों को 'स्थायी भाव' एवं 'व्यभिचारी' भाव की संज्ञाएँ दी गई हैं। इन भावों की गतिशीलता के परिवेश में सब तरह के अवसर आते हैं। लोकगीत इन्हीं भावों की शाब्दिक काया हैं। अतः उनमें हमारी चेतना को स्पर्श करने की पर्याप्त शक्ति है। उदाहरणार्थ बाँझपन को लीजिए। हिन्दू समाज में 'सन्तान' का बड़ा महत्व है। मागधी लोककवि कहता है कि कोई बाँझ स्त्री पुत्र-प्राप्ति के लिए, एक जगह खड़ी होकर, सूर्य देव की प्रार्थना करने लगी। पास ही बिल में बैठी नागिन ने कहा—जरा दूर जाकर 'सुरुज बाबा' को प्रणाम करो। कहीं तुम्हारी छाया पड़ने से मैं भी बाँझ न हो जाऊँ। इसे सुनकर बेचारी की कैसी दशा हो गई ! विरह की स्थितियों का ऊपर विश्लेषण हो चुका है। एक और उदाहरण देखिए। कोई विरहिणी अंत में निराश होकर कह रही है—

"फोरबइ मैं संखा, फारबइ मैं चोलिया, धरबइ जोगिनिया के भेष।"

—मैं शंख की बनी चूड़ियाँ फोड़ डालूँगी, सुनहरी चोली को फाड़कर फेंक दूँगी और जोगिन का बाना बना कर प्रीतम को ढूँढ़ने निकल पड़ूँगी।

बेटी की विदाई भी ऐसे ही मार्मिक प्रसंगों में है। बेटे की तरह उसका भी जन्म होता है। मां-बाप बड़े प्यार से उसका लालन-पालन करते हैं। पर एक दिन वह पराई हो जाती है। बिछुड़ते समय उनके दिल की जो दशा होती है, सो तो वही जानती हैं। इन पंक्तियों को लिखते समय, मुझे राजस्थानी लोकगीत 'कोयलड़ी' की स्मृति आ रही है, जिसमें बेटी की बिदा के समय परिवार की स्त्रियाँ आँसुओं में डूबी हुई गाती हैं— ओ मेरी हरे-भरे बन की कोयल! तू सबको उदास कर कहाँ चली। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कालिदास ने इस दृश्य का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। पढ़ते वक्त कौन सहृदय नहीं रो उठेगा? महर्षि कण्व कहते हैं—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैकल्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुखैर्नवैः॥"

सीता की शादी हो रही है। कन्यादान का प्रसंग है। व्यामोह, विकलता और चिन्ता के कारण राजा जनक की बड़ी ही करुण दशा हो चली है। लोककवि कहता है—

"थर-थर कँपथिन भूप जनक जी, जुगल नयन ढरे नीर हे।
केहि विधि दान करब हम सिय के, चित न रहत मोर धीर हे॥"

—राजा जनक थर-थर काँप रहे हैं। दोनों आँखों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। सोचते हैं—आह! अभी यह हालत है, तो सीता को किस प्रकार दान करूँगा, क्योंकि मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।

बेटी की बिदा के समय गृहस्थों को जो मार्मिक व्यथा सहनी पड़ती है, उसे मागधी लोककवि ने निम्नांकित पंक्तियों में मानों और भी मूर्त कर दिया है। शब्दों के गागर में उसने वेदना का सागर भर दिया है—

"गउनमा के दिनमा धराइल, गउना निगचायल हे।
सब सखी करथिन चतुरइया, बाबू के फटले करेजवा,
रे जैसे भादों कॉंकर, मइया के ढरे नयना लोर,
रे जैसे भादों मोरी चुए।"

भाव यह है कि गउना का दिन निश्चित हो गया है। देखते-देखते वह सिर पर मँडराने लगा। सारी सखियाँ मिलकर अपनी प्यारी सहेली को विदाई देने की तैयारी कर रही हैं। बाबू की छाती विदा देते फटी जा रही है, जैसे भादों में ककड़ी फट जाती है। मैया के नयनों से झर-झर आँसू झरते हैं, जैसे भादों में ओरी (ओलती) से पानी गिरता है।

४. धार्मिक आस्थाएँ

हम भारतीयों का संपूर्ण जीवन धार्मिक आस्थाओं से ओतप्रोत है। लोकगीतों में इनका व्यापक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। संस्कार, पुनर्जन्म, देवी-देवता आदि के

गीत इन्हीं में अन्तर्हित हैं। जन्म से मरण तक षोड़श संस्कारों का विधान है। इन संस्कारों के पीछे मंगल एवं कल्याण की भावनाएँ ही काम करती हैं, कारण, हमारा यह विश्वास रहा है कि 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः।' अर्थात् धर्म की रक्षा की जाय तो वह रक्षा करने वाला होता है। लोकगीतों में इन संस्कारों का सही स्वरूप प्रकाशित होता है। प्रत्येक संस्कार अवसर-विशेष से सम्बन्धित है और उक्त अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीतों में इन संस्कारों की बड़ी मार्मिक झाँकियाँ मिलती हैं।

'हाल' की 'गाथा सप्तशती' में इस परम्परा के कई एक स्थलों पर सुंदर संकेत मिलते हैं। भागवतकार ने भी इसका उल्लेख किया है। वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के १२वें अध्याय का नौवाँ श्लोक एवं रघुवंश के तीसरे सर्ग का १९वाँ श्लोक भी इसी ओर संकेत करता है। संस्कार-गीतों में मुख्यतया प्रसंगानुकूल रीति-रिवाज उल्लास, हर्ष आदि का विश्लेषण होता है। शृंगार का संयोगपक्ष इनका मुख्य वर्ण्य विषय है। बच्चे का जन्म हो जाने के बाद मागधी नारियाँ प्रसूतिगृह में बैठ जाती हैं और गाती हैं—

"अजी दादा लुटावे अनधन सोनमा,
अरे दादी लगावे, रेशम के फुदना,
पुरइन-पातों से निकले गोपाल ललना।"

उक्त अवसर पर परिवार के सदस्यों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण इन गीतों में मिलता है। यहाँ एक बात दृष्टिपथ में रखने लायक है वह है पुत्र-जन्म के प्रति माता-पिता का आकर्षण। शायद इसका मूल कारण यह है कि पुत्र उनकी वृद्धावस्था में अवलम्ब एवं मरण-पश्चात् श्राद्धादि धर्मविहित कर्म सम्पादन करने वाला होता है। एक ननद अपनी आसन्न-प्रसवा भाभी के बारे में स्वप्न देखती है—

"अहो सपना देखली अजगुत आज,
नइहर बालक जल्मल हो लाल।"

—अरी, मैंने तो आज अजीब सपना देखा है। सच, मैंने देखा है कि नइहर में लड़का (पुत्र) पैदा हुआ है।

यों तो सभी संस्कारों के संबंध में पर्याप्त परिमाण में लोकगीत उपलब्ध हैं, पर जन्म और विवाह—इन दो संस्कारों के प्रति मागधी लोककवियों का अत्यधिक झुकाव दीख पड़ता है। विवाह के क्रम में उपस्थित होने वाले प्रत्येक विधि-विधान का उल्लेख है। नीचे एक-दो गीत प्रस्तुत हैं। बराती आकर पास के बगीचे में ठहरे हुए हैं। नारियाँ गाती हैं—

"मौरिया तोहर इंतरवा में डूबल, सेहला तोहर लहस रहल हे।
सब्भे बरतियन चमना में बैठल, चमना के धारा लहस रहल हे।
दूर-दूर बेली, दूरे चमेली, अरगस के माला लहस रहल हे।"

—दूल्हे का मौर तो मानों इत्र में भिगोया हुआ है, तभी मँहमँहा रहा है। उसकी पगड़ी कितनी शानदार है। सभी बराती पासवाले बगीचे में बैठे हैं, जिसमें कुछ-कुछ

दूर पर बेला-चमेली के फूलों की सुगंधि फैल रही है। बरातवालों की छाती पर अरगस के फूलों की माला सुशोभित हो रही है। इस समय बगीचे की शोभा का क्या कहना !

विवाह-प्रसंग में सबसे मनोहर स्थल तब आता है, जब वर दरवाजे पर पहुँचता है। मुख्य द्वार पर कुछ नारियाँ हाथों में अक्षत-पान एवं दीप-धूप से सुवासित थाल लिये खड़ी रहती हैं। अगल-बगल के कोठे स्त्रियों से खचाखच भरे रहते हैं। अजीब समाँ होता है। प्रसन्न चेहरों पर उल्लास चमकता है। पटाखों की आवाज़ वातावरण में जोश पैदा करती है और उठती रहती है। थरथराती, सिहरन भरी एकलय, एकताल, पवन-तरंगों में थिरकती गीतों की समधुर झंकार—

"नदिया किनारे नैया लायो रे, झँपकि बूँदा बरसे।
बाबू मोरा है अलबेला रे, नजरियो ना लागे॥"

देवी देवताओं के गीत भी इसी भावना-परिवेश में आते हैं। इन गीतों में प्रायः राम-कृष्ण, महादेव, तुलसी, शीतला, गंगा आदि के रूप-गुणों का उल्लेख होता है। इस प्रसंग में कुछ बातें विशेष द्रष्टव्य हैं। राम एवं कृष्ण, जो परमेश्वर के अवतार माने जाते हैं, लोकगीतों में सामान्य जन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उनके रूप, उनके प्रेम आदि में जन-जीवन ही मुखर होता है। उदाहरणार्थ एक गीत-चित्र लें—

"जनक दुलारी, गेलन फुलवारी,
लेले सखियन दस संग,
चम्पा-चटक चमेली तोड़लन,
चीर गुलाबी रंग।
भले रघुनाथ के दीठ पड़ल।"

एक और उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें सामान्य जीवन का हास-परिहास बड़ी सुन्दरता से सुरक्षित है—

"छोटे मोटे ग्वालिन देखन बड़ सुन्दर,
चलि अयलन दहिया बेचन हो रामा।
इ पारे मथुरा, उ पारे गोखुला
बीचे ठइयाँ कान्हा धयलन बहियाँ हो रामा।
छोड़ छोड़ कान्हा रइया, हमरो अँचरवा,
पड़ी जयतो, दही के छिटकवा हो रामा।
तोरा लेखे अगे ग्वालिन दही के छिटकवा,
मोरा लेखे अतर गुलबवा हो रामा।"

महादेव से सम्बद्ध गीतों में अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक होता है। उदाहरण—

"मथवा जे अइले महादेव, बड़े-बड़े जट हे।
कंधवा जे अइले महादेव, बघिनी के छाल हे।

परछे बहर भेलन सासु हे मदारन।
गोह्रन सर्पा छोड़ले फुफकार।
भला सासु भला गेलऽ हे डराई।
तोरा लेखे अहे सासु गोह्रन साँप।
मोरा लेखे अहे सासू गज मोती हार।"

५. जड़-चेतन का समन्वय

मागधी लोकगीतों में जड़त्व में चेतनता के आरोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मागधी जनता के लिये गंगा एक सामान्य नदी नहीं, एक देवी है, जिसमें दुखों को दूर कर सुखों से भरपूर करने की पूरी शक्ति है। उसका रूपांकन एक नारी के रूप में होता है, जो माँगों में टिकुली 'साटती' है, ओढ़नी ओढ़ती है एवं नाक में नथ पहनती है। वह चारों घाटों के बीच खेलती रहती है। कितना सुन्दर रूप खड़ा किया गया है। इसी प्रकार 'सीतला' का रूप अंकित किया गया है। गीतों में प्रायः सात बहनों का उल्लेख एक साथ ही किया जाता है। साधारणतया जब किसी को चेचक होता है, तो उसके शरीर पर घृत-कपूर का लेप कर, धूप जलाकर परिवार की नारियाँ उसे घेर कर बैठ जाती हैं। वे नीम की टौंगी से रोगी को पंखा करती हैं, साथ ही गीत गाकर 'सीतला मइया' का गुणगान करती हैं—

"नीमियाँ के डलिया मइया लगलो हिण्डोरवा,
झुली-झुली मइया गावल गीत कि झुली-झुली।
झिलुआ झुलइत मइया लगलो पीयसवा.
से चली भेलन मइया मलिया केर बगिया।
सुतल हे कि जागल हे मालिन केर बिटिया,
मोरा एक चुलूँ पनियाँ पिलाहूँ।
कैसे में मइया पनिया पिलइयो कि,
मोरो गोदी मइया तोहरो बलकवा।
बलका सुताहु मालिन सोने के खटोलवा,
आ सोने के मचोलवा; एक चुल्लू पनिया पिलाहूँ।
बलका सुतउलन मालिन सोने के खटोलवा,
से सोने के मचोलवा; एक चुलू पनिया पिलउलन।
जैसे गे मालिन हमरा जुड़उले से,
तोर बलकवा जुड़ाऊ, तोर पतोहिया जुड़ाऊ।"

'सीतला' सम्बन्धी गीतों के गाने के पीछे एक बड़ा मनोवैज्ञानिक रहस्य है। उसे सामान्य रोग न समझ, स्त्रियाँ उसे देवी समझ कर उसका गुणगान करती हैं। दूसरे, कोकिल-कंठों से गेय गीतों के सुमधुर संगीत से, भीतरी ताप एवं जलन से तड़पते रोगी को बहुत-कुछ शान्ति मिल जाती है। उसका मन दूसरी ओर खिंच जाता है और अपनी विषम वेदना को वह प्रायः भूल-सा जाता है।

अलौकिक तत्त्वचिन्तन प्रायः उन लोकगीतों में मिलता है, जो फकीर गाते चलते हैं। ब्रह्म क्या है ? विश्व को किसने बनाया ? जीवात्मा को कौन प्रेरित करता है ? आदि जिज्ञासाओं की विशद चर्चा उनमें मिलती है। उन लोकगीतों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें जो भावनाएँ सँजोयी गई हैं, वे प्राचीन परम्परा से प्रभावित हैं। यह प्रभाव उनमें किस प्रकार आया, कहना मुश्किल है। उदाहरण के लिये एक मागधी गीत प्रस्तुत है—

"साधो लोक से पराइ, गुन गाइ गाइ बहुरी न आवर एना।
ककरे बले विषया में, लग्गइ पेसल मनमा,
कउन जे ढुलकावे, उत्तम जोड़ी में परनामा।
ककरे बले अंकुरइ, कंठ में बचनमा,
कउन देव देलक मोरा कान अउ नयनमा।
कनमों के कान, साधो, मनमो के मनमा,
बचनों के वाक से, उ परनमों के परनमा।
अँखियो के आँख, भिन्न-भिन्न रूप धारी,
ओकरे प्रतापे ओही में रहे मनचारी।
साधो, ओकरे दरस ओट टारी जीवन, मुकुती पवाइ एना॥"

—ऐ प्यारे ! लोक से परे उस सर्वेश्वर के गुण गाओ। क्या जाने फिर आना पड़े या नहीं। अच्छा, वह कौन है जो कामनाओं में मन को नियोजित कर देता है ? दम्पती-युगल में कौन प्रेम का संचार करता है ? किसकी प्रेरणा से कण्ठ से बोल फूटते हैं। किसके दिए हम लोगों के कान और नयन हैं ! कौन कानों का कान है और मन का भी मन है ? कौन वचन है, और प्राणों का भी प्राण है ? कौन आँखों की आँख है और भिन्न-भिन्न रूप धारण करने वाला है ? किसके प्रताप से सब एक नियम से काम करते रहते हैं !

'स्पष्ट है कि ऊपर की पंक्तियों पर कठोपनिषद् के निम्नांकित मन्त्रों का प्रभाव है।'

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केनः प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥
श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो वचो यद्, वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृताः भवन्ति॥"

लोकगीतों के माध्यम से जन-जीवन का जो एक और पहलू सामने आता है वह है प्रकृति से उसका तादात्म्य सम्बन्ध। लोकगीतों में प्रकृति से मानवीय सम्पर्क की जितनी सरल एवं सरस व्याख्या मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यह स्वाभाविक ही है। कारण, लोकगीत मानव-समाज की उन श्रेणियों में ज्यादा गूँजते हैं जिनपर आधुनिक सभ्यता का प्रकाश बहुत कम पड़ा है।

६. मनोरंजन के उपकरण

लोकगीतों में जन-जीवन की जितनी परिस्थितियों का विश्लेषण हुआ है, शिक्षित वर्ग की दृष्टि में वे सब अत्यन्त गम्भीर हैं। परन्तु लोकगीतों का दूसरा तथा व्यावहारिक दृष्टि से जो सबल पक्ष है वह लोक-रंजन से सम्बद्ध है। मनोरंजन की सामग्री की दृष्टि से मागधी लोकगीत स्पृहणीय हैं। बचपन से लेकर जरापर्यन्त आयु के क्रमिक विकास के अनुसार मनोरंजन की सामग्री इन लोकगीतों में उपलब्ध होती है।

आयु के क्रमिक विकास के अनुसार हम देखें तो मागधी के मनोरंजन सम्बन्धी लोकगीतों का विभाजन इस प्रकार होगा—(१) लोरियाँ, (२) पालने के गीत, (३) शिशु-गीत, (४) खेल के गीत (५) शैक्षणिक गीत (६) पहेलियाँ एवं ढकोसले। लोरियों के अन्तर्गत उन गीतों को लिया जा सकता है जिन्हें बच्चों को गोद में लेकर सुलाने के समय गाया जाता है। ऐसे गीतों में 'चाँद मामा' का बार-बार उल्लेख होता है। माता लयपूर्वक इन गीतों को गाती है। पालने के गीत लोरियों के ही दूसरे रूप होते हैं। बच्चे रोयें नहीं तथा इन्हें नींद आ जाय, इसलिए उनकी माता उन्हें पालने में सुलाकर झूला झुलाती है। इस समय वह गीतों को भी गाती जाती है, जिनमें से एक इस प्रकार है।—

"बबुआ रे तू कत्थी के ? ककड़ी के टुस्सा के ?
चोआ चनन के पुरिया के, मइया हउ लवँगिया के
बाबू जी जफरवा के ॥"

शिशु-गीतों में उन लोकगीतों को ले सकते हैं जो लोरियों एवं पालने के गीतों के अन्तर्गत नहीं आते। इन गीतों में मनोरंजन की प्रधानता रहती है। उदाहरण है—

"चान मामू चान मामू हँसुआ द।
से हँसुवा काहेला ? घसवा गढ़ावेला।
से घसवा काहेला, गोरुआ खिलावेला।
से गोरुआ काहेला, गोबरा पुरावेला।
से गोबरा काहेला, अंगना निपावेला।
से अंगना काहेला, गेहुँमाँ सुखावेला।"

इस प्रकार यह गीत बढ़ता जाता है।

खेल के गीतों का भांडार समृद्ध है और वह जन-जीवन की व्यावहारिक चेतना की विभिन्न दिशाओं की ओर संकेत करता है। साधारणतया एक वर्ष से लेकर बारह-चौदह वर्ष तक के बच्चों की गतिविधि की इसमें बड़ी भली झाँकी मिलती है। छोटे बच्चों के मनोरंजन-गीतों में 'घुघुया मनेरिया' से शुरू होने वाले गीत का बड़ा महत्त्व है। बड़े बच्चे छोटे बच्चों को सुपलियाँ जोड़कर उसी पर बिठा लेते हैं और ऊपर-नीचे ले जाते हैं। साथ ही वह गीत भी गाते रहते हैं। इसी प्रक्रिया में जहाँ उनका मनोरंजन होता है,

वहाँ शारीरिक व्यायाम भी होता रहता है। 'तार काटो, तरकुन काटो' वाला गीत भी कुछ इसी प्रकार का है, जो मगध क्षेत्र में सर्वत्र प्रचलित है। पहेली बुझाते हुए गाये जाने वाले खेल-गीतों का भी बड़ा महत्त्व है। इससे जहाँ बच्चों में जिज्ञासा का आविर्भाव होता है, वहाँ उनकी बुद्धि का भी परिचय मिलता है। जैसे एक गीत में एक लड़का गाता हुआ पूछता है कि किसकी लम्बी टाँगें होती हैं? किस पक्षी के उजले पंख होते हैं? कौन पेट के बल चलता है और हृदय में किसकी आँख छिपी रहती है। दूसरा लड़का गाता हुआ जवाब देता है कि गरुड़ की टाँगे लम्बी-लम्बी होती हैं। बगुले के पंख उजले होते हैं, साँप पेट के बल चलता है और कछुए की आँखें हृदय में छिपी रहती हैं। गिनती सीखने के लिये जो गीत प्रचलित हैं, वे भी बड़े सार्थक और उल्लास का संचार करनेवाले हैं। दो पंक्तियाँ दी जा रही हैं—

"गन फकीरा राम, त रामजी के नाम।
गन फकीरा दू, त दूजे के चाँद॥"

बड़े बच्चों का मनोरंजन करने वाले खेल-गीतों में कबड्डी के गीतों को लिया जा सकता है। कबड्डी का खेल तो अब अन्तरराष्ट्रीय ख्याति पा चुका है। उक्त अवसर पर कई एक प्रकार के गीत गाए जाते हैं, जो स्फूर्तिदायक होते हैं। उदाहरणार्थ—

"आवी ला, आवी ला, तबला बजावी ला!
तबला में पइसा, लाल बगइचा,
लाल बगइचा।"

बच्चे अपना मनोरंजन मुख्यतः पहेलियों से करते हैं और कभी-कभी मुहावरेदार उक्तियों से भी करते हैं। इन उक्तियों में प्रायः जन-जीवन के मनोरंजक पहलुओं की समीक्षा रहती है। इसमें गप्पें मारना, रोब गाँठना, ख्याली पुलाव पकाना, कंजूसी और अनाहूत मेहमानी निभाना आदि सभी शामिल हैं। जैसे, नीचे की पंक्तियों से 'कँजूसी' और 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' पर छींटाकशी की गई है—

"'सुक्ख धान साँझ ले', 'आवऽ नींन बिहान ले',
'मोर चटिया पेनवे घाव, छौ महीना में उतरे ताव',
'हम पहुँना दुर्जोधन नाऊ, बरस रोज ले घर ना जाऊँ!"

पहेलियों के विभिन्न रूप होते हैं। बड़ों के लिये जो पहेलियाँ होती हैं, वे जरा कठिन होती हैं। कई एक तो गणित का सुन्दर चमत्कार छिपाए होती हैं। उनसे जहाँ उनका मनोरंजन होता है, वहाँ उनकी बुद्धि का भी पता चलता है। जैसे एक पहेली का सारांश है—चार मन्दिर हैं। चारों के आगे चार पोखर हैं। उनके जल में धोने पर फूल दूने हो जाते हैं। एक पुजारी कुछ फूल लेकर गया और चौथे मन्दिर में चढ़ाने पर एक फूल भी नहीं बचा। तो वह कितने फूल लेकर चला था?

मध्यम वर्ग वाले बच्चे छोटी एवं सरल पहेलियाँ बुझाते हैं, जिनमें कुछ संकेत दिये हुए होते हैं और कुछ बूझना होता है। कुछ में संगीतात्मक ध्वनियाँ बहुत अधिक होती हैं, जो बड़ी ही कर्णप्रिय होती हैं। जैसे—

"एक चिरैया पट, ओकर पंख दुनो पट।
ओकर खलरी उजार, ओकर मांस मजेदार ॥"

(केला)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार दूसरी भाषाओं के लोक-गीतों में जन-जीवन की सुन्दर झाँकियाँ उपलब्ध होती हैं उसी प्रकार मागधी लोकगीतों में जनता का समग्र जीवन प्रतिबिम्बित दृष्टिगोचर होता है।

मैथिली लोकगीत

सुधाकान्त मिश्र

मिथिला की नैसर्गिक छटा एवं प्राकृतिक शोभा की भाँति ही, मिथिला में रहनेवाले, लगभग तीन करोड़ मैथिलभाषियों की मातृभाषा—'मैथिली' का साहित्य-भंडार भी अत्यन्त समृद्ध, हृदयग्राही और मनोरम है। मैथिली साहित्य के दो प्रमुख भाग किये जा सकते हैं—(क) शिष्ट साहित्य और (ख) लोक-साहित्य। जो साहित्य क्रमबद्ध रूप में, तर्क और मनन द्वारा, सप्रमाण उक्तयों से अपने उच्च स्तर द्वारा मानवीय विचारों का अंकन करता है, वह शिष्ट साहित्य है। साहित्य की वह धारा जो जन-मानस के निकटतम रहकर मानवीय भावों—विरह, मिलन, प्रेम, स्नेह, बेदना, क्रन्दन, आनन्द, हर्ष, मोदादि का अंकन करती है, वह लोक-साहित्य है।

मैथिली लोक-साहित्य दो भागों में बाँटा जा सकता है। 'गद्य साहित्य' में गद्य शैली में की गई साहित्यिक रचनायें आती हैं, इनमें लोक-कथाओं, लोक-रीतियों तथा लोक-विश्वासों का वर्णन रहता है और 'पद्य-साहित्य' में लोकगीत, लोक-दोहे तथा चौपाइयों और मुक्तकों को हम सम्मिलित कर सकते हैं। इस छोटे-से निबन्ध में मैथिली लोक-साहित्य के पद्य भाग के एक छोटे से अंश—मैथिली लोकगीतों के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

मैथिली लोकगीतों की विशेषतायें

लोकगीतों के सम्बन्ध में बताते हुए डा० अमरनाथ झा ने लोकगीतों की विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख किया है—"इन गानों में हम मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दृश्य को देखते हैं; कन्या के ससुराल चले जाने पर माता के करुण स्वर सुनाते हैं, पुत्र के जन्म पर माता-पिता के आनन्द की ध्वनि पाते हैं, खेतों के बह जाने पर हताश किसान के क्रन्दन, विवाह के अवसर पर बधाई के गान, गृहिणी के विरह की व्यथा, सन्तान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना अर्थात् मानवीय जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते हैं[1]।

वास्तव में मैथिली लोकगीतों में उपर्युक्त सारी विशेषतायें हैं। मिथिला के अंचल में, मदमाती हवा के संग डोलती हुई स्वर-लहरियाँ, चन्द्रमा की उज्ज्वल श्वेत ज्योत्स्ना और

---

१. डा० अमरनाथ झा, 'सुहृद-संघ' के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दिया गया भाषण।

एक सजग मानवीय स्पन्दन का भाव—ये सारे दृश्य मैथिली लोकगीतों में आप पायेंगे। यह नहीं कि गुजरात में, बंगाल में या आसाम में आपको इस प्रकार के दृश्य न प्राप्त हों, परन्तु मिथिला में इन दृश्यों के साथ जो मैथिली संस्कृति की पृष्ठभूमि मिलेगी वह केवल मिथिला की होगी।

मैथिली लोकगीतों की सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ विशेषता—'गाने की लय है, जिसे मैथिली भाषा में 'भास' तथा 'राग' कहते हैं। मैथिली भाषा में मैथिल तरुणी के कलकंठ से अवतरित एक विशेष लय में गाये गये इन लोकगीतों के नाटकीय प्रभाव को हम शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते हैं। यह तो केवल श्रवण और अनुभव की वस्तु है। मैथिल कवि लोचन ने अपनी पुस्तक 'रागतरंगिणी' में 'राग' और 'भास' का वैज्ञानिक, शास्त्रीय एवं विशद विवेचन मिथिला संगीत की परम्परा के अनुसार प्रस्तुत किया है। कविवर चन्दा झा ने भी अपने ग्रन्थ 'मैथिली रामायण' में इसको ही 'मिथिला संगीत' की परम्परा माना है। मैथिली लोकगीत 'समदाउनि' में जो एक आन्तरिक व्यथा का समावेश केवल 'भास' और 'लय' से किया जाता है, वह अन्य भाषाओं के उसी अवसर पर गाये गये लोकगीतों में प्रायः नहीं पाया जाता। महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक के 'श्लोक चतुष्टय' को पढ़कर यदि सरस पाठकों की आँखें गीली हो उठती हैं तो 'समदाउनि' लोकगीतों के श्रवण मात्र से सहृदय श्रोता रो पड़ते हैं।

दूसरी प्रमुख विशेषता 'मैथिली लोकगीतों द्वारा शिष्ट-साहित्य की रक्षा तथा प्रोत्साहन का होना' है। मैथिली साहित्य के इतिहास में तीन ऐसे अवसर हैं, जहाँ मैथिली लोकगीतों ने साहित्य को जीवित और सबल बनाये रखा है। सर्वप्रथम विद्यापति-युग में, फिर अठारहवीं शताब्दी के अन्त में सन्त कवियों के समय में, और वर्तमान काल में। इन तीनों अवसरों पर मैथिली लोकगीतों द्वारा ही शिष्ट-साहित्य की धारा सबल तथा रक्षित हो सकी है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी मैथिली लोकगीत अपना विशेष स्थान रखते हैं।

तीसरी मुख्य विशेषता 'मैथिली लोकगीतों की विविधता' है। प्रत्येक कार्य के लिए, प्रत्येक अवसर के लिए, मिथिला के प्रत्येक व्यवहार के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत प्राप्त हैं। जीवन में प्यार, मिलन, विरह, आकर्षण तथा समस्त क्रियायें मानो संगीतात्मक हो उठती हैं। मिथिला का जीवन ही गानमय है। रीति-रिवाजों, विशेषकर उपनयन तथा वैवाहिक रीतियों की प्रचुरता के कारण मैथिली लोकगीतों की धारा अनन्त हो उठी है। उदाहरण के लिए दूसरे प्रान्तों में शादी हुई, बरात आई और गई; परन्तु मिथिला में विवाह-कार्य वर के आगमन से द्विरागमन तक तीन साल की अवधि में समाप्त हो पाता है। यह सत्य है कि प्रत्येक भाषा में संस्कार, धार्मिक कार्य या उत्सवों पर प्रचुर लोकगीत गाये जाते हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि मैथिली लोकगीतों (विशेषकर डहकन, समदाउनि, नचारी, महेशवाणी, वटगमनी आदि) की-सी समृद्धि और विविधता संसार की किसी भी भाषा के लोक-साहित्य में नहीं पाई जाती।

कुछ विशेष मैथिली लोकगीत

मैथिली लोक-साहित्य को हम गद्य और पद्य दो भागों में बाँट सकते हैं। गद्य भाग में लोक-कथायें विशेष हैं और पद्य भाग में लोकगीत, दोहे, चौपाइयाँ, पहेलियाँ आदि सम्मिलित की जाती हैं।

मैथिली लोक-साहित्य के पद्य भाग को हम 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' गीतों के रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर मैथिली लोकगीत भी हैं। अब हम इसी वर्गीकरण के आधार पर कुछ विशेष मैथिली लोकगीतों की सोदाहरण[1] विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

(क) मुक्तक मैथिली लोकगीत

इस श्रेणी में मुख्य रूप से ये गीत सम्मिलित हैं—

(१) संस्कार विषयक लोकगीत।

(२) धार्मिक कार्यों संबंधी लोकगीत।

(३) ऐतिहासिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक लोकगीत।

(४) ऋतु-सम्बन्धी लोकगीत।

(५) बच्चों के लोकगीत।

(६) अन्य मुक्तक लोकगीत।

मुक्तक लोकगीत छोटे होते हैं और विशेष अवसरों पर विशेष लय में गाये जाते हैं। इन गीतों की तीन विशेषतायें—सरलता, मनोहरता और विविधता—स्पष्ट मालूम पड़ती हैं। समवेत गान के रूप में इन मुक्तक मैथिली लोकगीतों की लय और तान बहुत मनोहर हो उठती है। किसी भी समय, कार्य में लगे रहते हुए ही, ये गीत गाये जाते हैं।

संस्कार विषयक गीत

मैथिली लोकगीतों में इस शैली के लोकगीतों की संख्या सर्वाधिक है। जन्म के समय पर 'सोहर', उपनयन संस्कार के अवसर पर 'जनेऊ' के गीत; विवाहोत्सव में 'कुमार', 'पड़िछनि', 'कोबर', 'साँझ', 'डहकन', 'उदासी', और 'भड़फोड़ी' आदि गीत, कन्या के प्रियतम के घर जाते समय 'द्विरागमन', 'उदासी' और 'समदाउनि' के गीत गाये जाते हैं। कुछ गीतों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

१. 'सोहर'

"घर सँ बहार भेलीह सुन्दरि, पिआ पाछु ठाढ़ि भेलीह, रे ललना।
पिआ लेलखीन हृदय लगाय, कहू कहू धनी कूसल, रे ललना॥
देह मोरा काँपय गहन जकाँ, आर झालरि जकाँ, रे ललना।
ललना मारे पँजरबा तीर, ककरा जगायब, रे ललना॥

---

१. निबन्ध में बिना नाम के ये समस्त उदाहरण, लेखक ने अपने अप्रकाशित मैथिली लोकगीतों के संकलन से दिये हैं।

सासु मोरा सूतल भानस घर, ननदि कोबर घर में, रे ललना।
हुनि प्रभु सुतलाह मुनहर घर, ककरा जगायब, रे ललना।।
सासु मोरा उठलीह गबैत, ननदि उठलीह बजबैत, रे ललना।
हुनि प्रभु उठलाह गरभ सँ, मोहर सबकें लुटबितहिं, रे ललना।।"[1]

२. 'मुंडन'

"कोने बाबा छुरिआ गढ़ाओल मढ़ाओल,
कोने बाबी लेल जन्म-झोंट, ललाजी के मूड़न में।
फलाँ बाबा छुरिआ गढ़ाओल, मढ़ाओल,
फँले बाबा लेल जन्म-झोंट, ललाजी के मूड़न में।।
पीअर वस्त्र पहिरि पुरइनिक पात सँ
आँचर छाँपल, ललाजी के मूड़न में।।"[2]

३. 'उपनयन' (जनउ गीत)

"मड़बहिं सँ ठाढ़ भेलाह फँला बाबा, अँगुरी सँ लागल फँला बरूआ हे!
बाबा सौजन हँकारि दिअ हे, बाबा सौजन पुकारि दिअ हे!"[3]

४. 'चरखकट्टी'

"कोने बाबा कें इहो चरखबा, कोने बाबी कटती जनऊ सूत हे।
फलाँ हेताह बाभन हे, कोने बाबी कटती जनऊ सूत हे।।"[4]

५. 'कुमार' (शादी से पहले के गीत)

(पुत्र-पक्ष) "पूरब पच्छिम सँ मेघवा जे आयल
मेघवा लगौली झड़ि वादर हे।
सेहो देखि आहे बाबा मनहुँ वेदिल भेल
आब बाबू रहलाह कुमार हे।।"

(पुत्री-पक्ष) "वनहिं में फुलैल बंधेड़ी फूल वन रिति आ ओन हे।
कुल जनमलि बेटी कुल सोहाओनि कुल रिति आओन हे।।
अमा धीया संजोगलि जेना घी के गागरि हे।
बाबा देल भसि आय जेना जल-मछरी हे।।"[5]

६. 'डहकन' (बारात आने पर गाली के गीत)

"धन्य जीवन तोरा मलमल सारी जी।
सोने जड़ल किनारी जी।।

१. लेखक का निजी संग्रह।
२. वही।
३. वही।
४. देखिए फुटनोट संख्या २।
५. वही।

मेथी आनि कचुर देल बासन
तासे आङ्ग उँगारी जी ।।
सुरखी सिन्दूर पुछरा काजर
तापर टिकुली बैसाओल जी ।।
टूटा वस्त्र समधिन उज्जर क क रखलनि
मीसी दाँत सम्हारी जी ।।
धन्य जीवन तोरा समधिन
नटनी क वेष उतारी जी ।।"[1]

७. 'पड़िछनि' (स्वागत)

"आजु सोभा जनक मंडिल चलहु देखन जाइ हे ।
जानकी बर दुलह रघुबर चलहु देखन जाइ हे ।।
साजि डाला, आनि ठकबक पात भालरि हे ।
दीप चौमुख बारि, चलहु देखन जाइ हे ।।"[2]

८. 'कोबर'

"कथी के गज कोबरी रे कोबरी बनि । कथी सँ लागल केबाड़ चारू दिस कोबरी बनि ।।
ताहि पैसि ओछोलनि सब रंग पटिआ,
फुलबा त देल छिड़िकाय कोबरी बनि ।
ताहि पैसि सुतलाह फलाँ दुलहा
सुहबे से फँलो सुहबे कोर कोबरी बनि ।।"[3]

९. 'भड़फोड़ी'

"आजु हरष दिन चारिम रे, भड़फोरी थीक आजे ।
दे अर छड़ी एक मारल रे, रूसि वैसलि ते जे ।।
माधव लाख मनावय रे, लाखो नहिं मानय जे ।
लेब देअर के बन्धक रे, बहिखत लिखु आजे[4] ।।"

१०. 'समदाउनि' (बिदाई के समय के गीत)

"बड़े जतन से सियाजी के पोसलौंह सेहो रघुवंसी लेने जाय ।
बैसल विदेसिया रोवै दलनमा, घोड़बा रोवै घोड़सार ।।
रने वने रोवै सखी हे सहेलिन जोरि विजोरी केने जाय ।
भनहिं विद्यापति सुनु हे सखी सब बेटी सासुर जाय ।।[5]

१. वही ।
२. वही ।
३. वही ।
४. वही ।
५. महाकवि विद्यापति का पद ।

धार्मिक कार्यों के गीत

इस शैली के लोकगीतों में, देवी या गौरी (गोसाउनि) गीत, मधुश्रावणी पूजा के गीत, छठि (सूर्य) गीत, सामा गीत, नचारी, महेशवाणी आदि प्रसिद्ध गीत हैं। इनमें से कुछ गीतों के उदाहरण देखिए—

११. देवी (गोसाउनिक के गीत)

"जय जय भैरवि असुर-भयाउनि पशुपति-भामिनि माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि अनुगति गति तुअ पाया॥"[१]

१२. मधुश्रावणी (पूजा के गीत)

"साओन मास नागपंचमी भेल, घर घर विसहरी पूजा लेल।
काहु के घर विसहरी खीर भोजन लेल, काहु घर आहे बिसहरी लावा दूध लेल॥
ब्राम्हणक घर आहे विसहरी खीर भोजन लेल, सेवक घर आहे विसहरी लावा दूध लेल।
भनहिं 'विद्यापति' विसहरी भान, सदाय रहब दहिन भेल साओन॥"[२]

१३. 'छठि' (सूर्य पूजा के गीत)

"गाइ गोबर ल क केलियहि टाम हो दीनानाथ।
सासु क नीपल पुतहु पैरो नहिं देलकैक हो दीनानाथ॥
तोहरो जे नाम लेलियैक हो दीनानाथ।
तइयो नहिं छुटलैक बाँझि के पद हो दीनानाथ॥"[३]

१४. 'सामा'

"डाला ले बहार भेलीह फँलो से फँलों।
फँला भइया लेलन्हि डाला छीन सुनु राम सजनी॥"[४]

१५. 'नचारी'

"करवन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ।
दुःखहिं जनम भेल दुःखहिं गमाओल॥
सुख सपनहु नहिं भेल हे भोलानाथ।"[५]

१६. 'महेसवाणी'

"हम नहिं आजु रहब एहि आङ्गन जौ बूढ़ होएत जमाय।
एक त बैरि भेल वीधि विधाता दोसर धिआ के बाप॥
तेसर बैरि भेल नारद ब्राह्मण जोहि लाएल बूढ़ जमाब।"[६]

१. लेखक का निजी संग्रह
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. वही।
६. वही।

ऐतिहासिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक गीत

इस शैली के गीतों में 'समर' (स्वयंवर) गीत बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें सीता, उषा, रुक्मिणी आदि के स्वयंवरों का वर्णन किया गया है।

१७. ऋतुकाल सम्बन्धी गीत

इस शैली के लोकगीतों में छओमासा, बारहमासा, फागु, वसन्त, चैती या चैतावर आदि प्रसिद्ध लोकगीत हैं। उदाहरण के लिए एक फागु गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"आबतु हे सखी मधुवन सँ घनश्याम हे।
हरिसन मुरली हरिसन लटुकी हरिसन दोसरो ने आन हे ।।
ककरा पहिरन पीत पितम्बर ककरा पहिरन चीर।
कृष्ण के ओढ़न पीत पितम्बर राधा क पहिरन चीर ।।"[१]

१८. बच्चों के गीत

ये लोकगीत पहेलियों (फकड़ा), तुकबन्दियों और लोकवचनों से सम्बन्धित निम्न प्रकार के हैं—

(क) 'फकड़ा' (लोक-पहेलियाँ)

"खण्ड खण्ड करु तरू आरी।
तैओ ने काटल जाय सुपारी ।।"[२]

(उत्तर—छाया)

(ख) तुकबन्दियाँ

"अपना लेल दालि भात पहुना लेल कैता।
तेहेन के ने छौकबनि घुरिक ने अओता ।।"[३]

(ग) लोकवचन

"सुतव उठव पाँजर मोड़ा। ताहि बीचि में जन्मल छौंड़ा।
राजा क बेटा रामलाल। आठ नौ ई 'डाक' नेहाल ।।"[४]

अन्य मुक्तक गीत

अन्य मुक्तक मैथिली लोकगीतों में 'लगनी', 'बटगमनी', 'झूम्मरि', आदि अनेक गीत आते हैं। समय और स्थान के अभाव से हम सबका उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

(ख) प्रबन्धात्मक लोकगीत

इस श्रेणी में भी दो प्रकार के प्रमुख भेद हैं—

(१) धार्मिक व्रत-कथा—जैसे सावित्री, एकादशी आदि व्रत-कथायें।

(२) ऐतिहासिक चरित्रों की कथायें।

१. देखिए फुटनोट संख्या—२।
२. जयकांत मिश्र, फॉक लिटरेचर आफ़ मिथिला, प्रथम भाग, पृ. ४३।
३. देखिए फुटनोट संख्या—२।
४. 'डाक बचनामृत' भाग २, पृष्ठ १६।

ऐतिहासिक चरित्रों की प्रबन्ध कथाओं में (जो लम्बे-लम्बे लोकगीतों के रूप में हैं) निम्नांकित कथाओं के गीत बड़े प्रसिद्ध हैं—लोरिक, सलहेस, दीना भदरी, कमला मैश्रा, जलेचा कुम्मरि, विहुला विषहरी, सोरठी सती, गोपीचन्द, मैनावती, अजुरा और नेवारा, जट-जटिन (नाट्य लोककथा) और ढोला-मारू।

(१) लोरिक गीत—वीर काव्य (Ballads) हैं जिसे लोरिक मणियार ने रचा था। इसका प्रारम्भ सम्भवतः ग्यारहवीं शताब्दी से हुआ, क्योंकि लोरिक का उल्लेख ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपनी पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' में किया है। लोरिक सहरसा (मिथिला) जिले में 'हरदीक चौघारा' नामक स्थान पर रहते थे। जनरल कनिंघम ने सबसे पहले लोरिक गीतों को प्रकाशित किया था। लोरिक गीत की कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

"पूरब हम सिंघेश्वर पूजब,
पच्छिम देवन - थान।
उत्तर में वाराहनाथ अरु,
दच्छिन बैजनाथ॥"[१]

(२) सलहेस—लोक-गाथा को सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने प्रकाशित किया[२]। सलहेस मैथिल 'दुसाध' नामक निम्न जाति के लोगों के देवता हैं। उनकी स्त्री 'दौना मालिनि' बड़ी रूपवती थी और मोरङ्ग देश की स्त्री थी। विसहरादि पाँच देवियों की सहायता से सलहेस से उसने विवाह किया था। सलहेस की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"एक बेरि छुरपल चुहड़ माल, ऊपर उड़ि गेल।
सै पचास हाथ खसल हाथिक हलका क बाहर,
लड़ै लागल सलहेस से।"[३]

(३) दीना भदरी—की लोक-गाथा में 'मुसहर' नामक दूसरे निम्न जाति के देवता 'दीना भद्दरी' की वीरता का वर्णन है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"एक सै एकैस घर मुसहर बसैत अछि उरसी डीह।
एक सरदार रतन मोती सरदार,
ठेहनी धैने जाइत अछि उरसिक डीह।"[४]

(४) कमला मइया—की लोक-गाथा में कमला नामक जलदेवी का वर्णन किया गया है, जैसे—

"कँह माँ बहै छी मैश्रा कमलेश्वरि
कँह माँ बहै छी बलान।

१. देखिए अप्रकाशित 'लोरिक गीत संकलन', सहरसा मैथिली साहित्य परिषद्।
२. देखिए 'मैथिली क्रेस्टोमैथी'।
३. जयकांत मिश्र, फ़ाक लिटरेचर आफ़ मिथिला, भाग १, पृ. २६।
४. वही, पृष्ठ, २८।

मैश्रा हे बहै छी बलान
दछिनहि बहै छैक मैश्रा कमलेश्वरि।"[१]

(५) इसी प्रकार जलैचा कुम्मरि (जयलक्ष्मी) की लोक-गाथा में एक राजकुमारी द्वारा अपने पिता के तालाब में जल उत्पन्न करने के लिए अपना बलिदान किया जाता है। विहुला की गाथा में साँपों और वासुकी नाग की कथा वर्णित है। सोरठी गीत कथा में सोरठी सती की कथा और गोपीचन्द मैनावती लोक-गाथा में राजा भरथरी और उनके भतीजे गोपीचन्द की कथा है। नेवारा लोक-गाथा एक अत्यन्त लोकप्रिय गाथा है जिसमें सम्भु बनियाँ के दो बेटों की कथा वर्णित है।

दूसरी भाषाओं के लोकगीतों से तुलना

मैथिली लोकगीत बँगला, उड़िया और असमिया लोकगीतों पर बहुत प्रभाव डालते हैं और कई गीत एक समान ही हैं। बंगला लोकगीत सबसे अधिक मैथिली लोकगीतों से मिलते हैं। बारहमासा, सोहर, विवाह-गीत, प्रभाती आदि लोकगीत सब भाषाओं में हैं।

मैथिली लोकगीतों का प्रभाव मिथिला के आस-पास के प्रदेशों पर बहुत पड़ा है, जैसा कि प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के इस कथन से स्पष्ट है—"मैथिली कविताओं का प्रभाव अपने पड़ोस की पूर्वी बहिनों पर अर्थात् बंगला, असमी और कुछ दूर तक उड़िया भाषाओं पर बहुत पड़ा।"[२] उपमाओं—जैसे पपीहा, कौआ, कोयल आदि, अलंकारों, जैसे हार, पायल आदि, पशुओं—जैसे बैल, गाय आदि समस्त पदार्थ सब भाषाओं के लोकगीतों में पाये जाते हैं। जेठ, सास, देवरानी, ननद, देवर, बहू, आदि सब पात्र भी सब भाषाओं के लोकगीतों में अपना एक विशेष व्यक्तित्व लेकर स्थित हैं। विरह, प्रेम, स्नेह उलाहना, गालियाँ आदि मनोभाव भी सब भाषाओं के लोकगीतों में हैं। राधा-कृष्ण का प्रेम, शिव-पार्वती का सम्बन्ध, सीता-राम का चरित्र सब लोकगीतों में मिलता है। इस प्रकार अपनी एक विशेषता रखते हुए भी मैथिली लोकगीत अन्य भाषाओं के लोकगीतों के समान प्राप्त होते हैं।

मैथिली लोकगीतों की आधुनिक धारा

मैथिली लोकगीत आधुनिक समय में मुख्य रूप से दो शैलियों में विशेष प्रचलित हैं—

(१) कीर्त्तन, भजन गीत।

(२) सामयिक लोकगीत।

कीर्त्तन, भजन गीत—इसमें 'मोदलता कीर्त्तन' और 'किशोरी कीर्त्तन' लोकगीतों में सबसे प्रसिद्ध और मनमोहक लोकगीत हैं। इनमें सीता और राम के चरित्र का विशेष

१. वही, पृष्ठ, ३१।
२. मिथिलामिहिर (मिथिलांक), १९३६, पृष्ठ ४।

उल्लेख है। इसका कारण सम्भवतः रामचन्द्र जी का विवाह मिथिला में होना है। उदाहरण के लिए कीर्त्तन लोकगीत का यह नमूना देखिए—

"आजु जनकपुर घर-घर मंगल आनन्द अधिक उछाह ए माइ।
सजि बरियात सुपुत्र विवाहन, एलाह अवध के नाइ।।
हाट बाट मँह चहल पहल छाएल, उमग सबहिं उर माह।
रानी सुनयना के जाइ जुड़ाउनि कैलन्हि सुखि सब काह।।"[1]

सामयिक लोकगीत—ये लोकगीत अकाल, चुनाव, गरीबी, कांग्रेस राज, सोशलिस्ट पार्टी, किसी बड़े व्यक्ति के आगमन की घटना, कलियुग, भूडोल आदि सामयिक परन्तु सरस घटनाओं और समस्याओं पर रचे गये हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

कलियुग की दशा

"देखु कलियुग के हाल, कलियुग के पुतहु करैय कमाल।
नहिरा सँ पुतहु जब ऐल ससुराल, चारिओ दिन ने भेल बजाबए लागल गाल।।"[2]

अकाल

"हाली हाली बरसु इन्नर देवता, पानि बिनु पड़ैया अकाले।। हो रामा।।
चओर सुखि गेल चाँचर सुखि गेल, सुखि गेल बाबा के चासे।। हो रामा।।"[3]

काँग्रेस पर व्यंग

"बहु टुटपुजिया काँगरेसी। धक्का पहुँचाबथि बेसी।।
त्याग क बघारि बहु ठेसी। पद परमिट पाबथि बेसी।।
कसि मारथि खूब हबक्का।
टनकाय-टनाटन टाका। पड़ि रहल देश में डाका[4]।।"

ओहदे पर व्यंग

"केओ ओरसिअर नाम लिखाओल-के ओ मोहरिर भेंट।
धर्म्मकार्य में लुटथि रूपैआ-तैं भेल सभकेर भेंट।।
के ओ जमानत दँकें बचलाह-जिनका अमला नेही।
ककरो मारि कै तँपिठि तोड़ैन्हि-उतरैन्हि जनमक ठेही[5]।।"

उपसंहार; समस्यायें

इस छोटे से निबन्ध में हमने मैथिली लोक-गीतों के सम्बन्ध में कुछ परिचय देने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह विषय गंभीर अध्ययन, समय, मनन और श्रम की अपेक्षा रखता है। अब हम उपसंहार के रूप में मैथिली लोकगीतों की प्रमुख समस्याओं का निरूपण करते हैं। ये समस्यायें निम्न हैं—

१. मोदलता पदावली, पृष्ठ ३९।
२. देखिए फुटनोट संख्या २।
३. देखिए फुटनोट, संख्या २।
४. धनुषधारी दास कृत—"रूपैआ राज" पृष्ठ ३।
५. देखिए फुटनोट, संख्या २।

(१) संकलन और प्रकाशन की समस्यायें—मैथिली लोक-साहित्य के संकलन और प्रकाशन का कार्य जो अब तक हुआ है वह सन्तोषजनक नहीं है। डा० ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम इनका संकलन और प्रकाशन किया था। फिर रामानन्द ठाकुर ने गोनू झा (लोक-हास्य के प्रमुख लेखक) की कुछ कहानियाँ प्रकाशित कीं। यहाँ हम श्रीराम-इकबाल सिंह 'राकेश' जी के अथक प्रयासों का भी गौरवपूर्ण उल्लेख करना चाहते हैं। श्री 'राकेश' जी ने कई लेख मैथिली लोक-गीतों पर प्रकाशित किए हैं और उनकी प्रामाणिक पुस्तक 'मैथिली लोकगीत' (संकलन) अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त श्री कालीकुमार दास, श्री कपिलेश्वर झा, राजपंडित श्री बलदेव मिश्र आदि विद्वानों ने लोक-गीतों को प्रकाशित किया है। जयगोविन्द मिश्र (विष्णुपुर), लक्ष्मीपति सिंह (मधेपुर), डा० जयकान्त मिश्र (नेपाल से प्राप्त कीर्त्तन-गीतों का संकलन) तथा स्वयं लेखक के पास अप्रकाशित मैथिली लोक-गीतों की अनन्त सामग्रियाँ पड़ी हैं। लोरिक गीतों का वृहद् संकलन डा० ब्रजकिशोर वर्मा (सहरसा जिला) कर रहे हैं। प्रयास करने से अत्यधिक संख्या में मैथिली लोक-गीत, कथायें, पहेलियाँ आदि अप्रकाशित सामग्री अब भी उपलब्ध हो सकती है। आवश्यकता है किसी राजकीय या प्राइवेट संस्था द्वारा इन सब सामग्रियों का संकलन, संपादन और अनुवाद वैज्ञानिक रूप से प्रकाशित किया जाय।

(२) रेकार्डिंग की समस्या—जैसा इस निबन्ध में पहले कहा गया है, मैथिली लोक-गीतों की एक प्रमुख विशेषता उनके संगीत, गाने के स्वर, भास तथा लय हैं। अतः अच्छे लोक-गीतों को रेकार्डिंग किया जाय तो पुराने राग और भास तथा नवीन कलात्मक धुनों के साथ उनके समन्वयात्मक प्रभावों से युक्त रिकार्डों द्वारा लोक-गीतों के सौन्दर्य की रक्षा और प्रचार सहज हो सकेगा। लोक-उत्सवों के फिल्म बनाना भी अच्छा प्रस्ताव हो सकता है। हिन्दी फिल्म 'नागमणी' में मिथिला के अंचल का जो दृश्य प्रस्तुत किया गया है और मैथिली लोक-गीतों की जो ध्वनि संग्रहीत की गयी है इससे हमारे कथन की पुष्टि हो सकती है। मैथिली लोक-गीतों के जो रेकार्ड अभी बन चुके हैं[१], वे रेकार्डिंग के उज्ज्वल भविष्य को सूचित करते हैं।

(३) रेडियो स्टेशन की समस्या—बिहार (और मिथिला में) केवल एक पटना रेडियो स्टेशन है जो कि सर्वथा अपर्याप्त है। फिर, उससे जो मैथिली कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं वे संतोषजनक नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार द्वारा एक और रेडियो स्टेशन दरभंगा या मुजफ्फरपुर में खोला जाये[२] और इससे लोक-साहित्य पर व्याख्यान, गीत, निबन्ध, फीचर आदि इस प्रान्त की मैथिली भाषा के माध्यम से प्रसारित हों।

(४) सरकारी नीति की समस्या—मैथिली भाषा और मिथिलावासियों की इच्छा का सर्वथा अनादर करके हमारी लोक-प्रिय बिहार सरकार हिन्दी के माध्यम से सब कार्य कर रही है। यह व्यवस्था मेरी समझ में सन्तोषजनक नहीं है। हम हिन्दी को

१. देखिए मैथिली रेकार्डों की सूची, वैदेही, फरवरी १९५७ ई०।
२. जयकांत मिश्र—'ए केस फ़ार ए रेडियो स्टेशन ऐट दर्भंगा'।

सहर्ष भारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं, किन्तु फिर भी प्रान्तीय भाषाओं और उनके साहित्य को भारत की जीती-जागती संस्कृति समझते हैं। इसलिए राष्ट्रभाषा के संग-संग प्रान्तीय भाषाओं (जैसे मैथिली भाषा) और साहित्य के यथोचित विकास द्वारा भारतीय संस्कृति के संवर्द्धन को हम उचित समझते हैं। कोई व्यक्ति एक उत्तम मद्रासी, बंगाली, असमी, द्राविड़, मैथिल, पंजाबी, गुजराती, उड़िया आदि होकर भी एक उत्तम भारतीय हो सकता है। "बिहार में मैथिलीभाषियों की ही संख्या सबसे अधिक है, किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि मैथिली ही अनादृत है[1]।"—यह उक्ति आधुनिक भाषाविद् और विद्वान् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की है। हम डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की इस बात से पूरी तौर पर सहमत हैं कि "मिथिला की प्राचीन भाषा मैथिली अपना उचित स्थान प्राप्त करे और वह भारत माता के गले में अन्यान्य भाषामणियों के समान अनुस्यूत होकर जगमगा उठे तथा हिन्दी उस हार की मध्यमणि बने[2]।"

(५) तुलनात्मक अध्ययन की समस्या—मैथिली लोक-गीतों पर या किसी भी भाषा के लोक-गीतों पर जो अध्ययन हो रहा है वह अभी तक तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। हम चाहते हैं कि किसी भी भाषा के लोक-साहित्य का अध्ययन तुलनात्मक स्तर पर हो।

(६) एक सार्वजनिक मंच की समस्या—भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन, मनन तथा प्रचार के लिए एक सामान्य मंच की आवश्यकता है। एक ऐसी केन्द्रीय संस्था हो जो विभिन्न भाषाओं के लोक-साहित्य पर कार्य करे तथा उस संस्था की शाखायें सभी प्रान्तों में हों। इस तरह से एक होकर यदि लोक-साहित्य पर कार्य किया जाये तो भारतीय लोक-संस्कृति और लोक-कलायें बहुत उन्नति कर सकती हैं। इसी प्रसंग में हम 'अखिल भारतीय लोक संस्कृति सम्मेलन एवं शोध संस्था, इलाहाबाद" की स्थापना और कार्य की पूरी-पूरी सराहना करते हैं एवं भविष्य में आशा करते हैं कि बिना किसी भेद-भाव या राजनीति के यह संस्था अपना कार्य करेगी।

(७) मैथिली की उपभाषाओं के प्रोत्साहन की समस्या—एक मुख्य समस्या यह भी है कि मैथिली की उपभाषाओं—जोलही, छिकाछिकी, खोट्टा, दछिनहा, पछिमहा और पूरबा को प्रोत्साहन दिया जाये। इससे मैथिली लोक-साहित्य की श्रीवृद्धि होगी[3]।

(८) लोकपत्रिका का प्रकाशन—हम चाहेंगे कि मैथिली लोक-साहित्य, लोक-कला, लोकनाट्य के अध्ययन और मनन के उद्देश्य से एक पत्रिका का नियमित रूप से प्रकाशन किया जाये जो कि अंग्रेजी (अन्तर्राष्ट्रीय भाषा), हिन्दी (राष्ट्रभाषा) और मैथिली (मातृभाषा) में प्रकाशित हो।

अन्त में हम उस सुनहले भविष्य की कामना करते हैं जब कि भारतीय संविधान में स्वीकृत हो मैथिली अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेगी और मैथिली भाषा के माध्यम से हम मैथिलीभाषी भारतीय संस्कृति और सभ्यता को और अधिक उन्नत कर सकने में समर्थ होंगे।

---

१. मिथिलामिहिर : मिथिलांक में छपा लेख, पृष्ठ ६।

२. वही।

३. जयकांत मिश्र—'ए हिस्ट्री आफ़ मैथिली लिटरेचर'।

कौरवी लोकोक्तियों का अध्ययन

सत्या गुप्त

जन-जीवन के मौखिक साहित्य में जिस प्रकार गीत, कथा आदि का स्थान है उसी प्रकार वरन् कुछ अंशों में उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान लोकोक्तियों का है। लोकोक्तियों का जन-जीवन में स्थायी स्थान है और वह सदा ही उनके अन्तर्मन पर आच्छादित रहती हैं। कहावतों का जन्म तो संभवतः लेखन कला से भी बहुत पूर्व हो चुका था। प्राचीन संस्कृति एवं परंपरा की द्योतक के रूप में इनकी जानकारी आवश्यक है। इनके द्वारा जनता की व्यावहारिक तथा आंतरिक विचारधाराओं को समझने में सहायता मिलती है। सांसारिक व्यवहार-कुशलता तथा सामान्य सहज बुद्धि का जितना सूक्ष्म और पूर्ण परिचय हमें इन कहावतों द्वारा मिलता है उतना अन्यत्र संभव ही नहीं। कहावतों का जन्म सामाजिक संबंधों से प्राप्त अनुभवों के द्वारा होता है, जिनके कारण उनमें पूर्ण सत्य नहीं तो आंशिक सत्य अवश्य ही होता है। अपने सत्य के कारण ही वह चिरकाल तक जीती हैं।

ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि अन्य प्रादेशिक बोलियों के समान ही कौरवी बोली में भी, अनेक प्रदेश की प्रायः समान भाव वाली होने पर भी, कुछ भिन्न स्थानीय लोकोक्तियाँ मिलती हैं। इनमें यद्यपि देश-काल और भाषागत अंतर अवश्य स्पष्टतः दृष्टिगत होता है, परंतु जिस प्रकार एक ही कपड़े की साड़ियों को भिन्न-भिन्न रंगों में रँगने पर भी उनके मूल कपड़े में अंतर नहीं आता उसी प्रकार उनमें अन्तर्निहित अर्थ व भाव प्रायः हर प्रदेश में एक समान ही रहते हैं। भौगोलिक प्रभावों के कारण कुछ चारित्रिक और स्थानीय विशेषतायें मिलती हैं। उनका उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रवेश की लोकोक्तियों में मिलता है। इनमें जो स्थानीय विशिष्टता होती है उससे उनके धरातल की पहचान की जा सकती है।

लोकोक्तियाँ जीवन के हर पक्ष का स्पर्श करती हैं। इसी से उनके विषय बहुपक्षीय होते हैं। इनमें प्रदेश-विशेष के लोगों की जातिगत विशिष्टताएँ, सामाजिक मान्यताएँ, आचार-विचार, स्वास्थ्य संबंधी नियम, ऋतु संबंधी नियम, धार्मिक आस्थाएँ, अंध-विश्वास, शकुन संबंधी तथा कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी मिल जाते हैं।

कौरवी लोकोक्तियों का वर्गीकरण

लोकोक्तियों का मानव मन से प्रत्यक्ष संबंध है और मानव मन सदैव परिवर्तनशील है। अतः उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण होना तो संभव नहीं है। इनका संबंध लोक-

जीवन तथा भावनाओं से है, जिनको सीमाबद्ध करना संभव नहीं। लोक-साहित्य सजीव साहित्य है जिसमें जीवन के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। कहावतों का वर्गीकरण किस आधार पर अथवा किन सिद्धान्तों पर किया जाय यह वास्तव में एक जटिल प्रश्न है। एक ही कहावत को भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। कहावतों के वर्ग भी विविध होते हैं। अतः वर्ण्य विषय के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—जातिसंबंधी, ऐतिहासिक, सामाजिक, धर्म और जीवन-दर्शन संबंधी, भाग्य संबंधी, लोक-विश्वासों संबंधी, स्वास्थ्य संबंधी एवं मनोविज्ञान संबंधी।

कहावतें प्रायः सामाजिक होती हैं, क्योंकि समाज जिस तथ्य को स्वीकार करता है वही कहावत के रूप में प्रचलित हो जाता है। इसीलिये किसी भी प्रदेश के सामाजिक जीवन से परिचय प्राप्त करने के लिये उस प्रदेश की कहावतों का अध्ययन नितांत आवश्यक है। उस प्रांत के लोगों की नारी के संबंध में क्या धारणायें हैं, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह तथा सामाजिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं और कुरीतियों को वह किस रूप में स्वीकार करते हैं, उनके जीवनादर्श क्या हैं तथा समाज में कौन से व्यवसाय प्रधान हैं, इन सबकी जानकारी जितनी अच्छी तरह कहावतों के द्वारा हो सकती है उतनी अन्य साधनों से संभव नहीं है।

जातिगत कहावतें

एक ही वातावरण में पीढ़ी दर पीढ़ी से जो शिक्षा-दीक्षा मिलती है उन्हीं के परिणाम-स्वरूप विशिष्ट जातिगत संस्कार बन जाते हैं। यहीं पर हम कुरु प्रदेश की जातियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कहावतों का वर्णन करेंगे। हर जाति की कुछ अपनी विशिष्ट चरित्रगत विशेषताएँ होती हैं, जिनका उल्लेख कहावतों में प्रशंसा, व्यंग्य आदि के रूप में समय-समय पर किया जाता है। इससे विभिन्न जातियों की मनोवृत्तियों का पता चलता है।

जाट जाति—जाट जाति कौरवी प्रदेश की बहुत ही वीर, उद्यमी तथा शक्तिशाली जाति है। यह बहुत साहसी व परिश्रमी होते हैं। इसी से कहावत प्रसिद्ध है—

"जाट मरया तब जाणिये जब तेरहीं होले"

जाट की 'पिछली बुद्धि' कही जाती है। 'जाट खोपड़ी' नाम से एक मुहावरा भी प्रसिद्ध हो गया है जिसका अर्थ है उसकी 'तुरत बुद्धि' की प्रशंसा। ये कृषि संबंधी कामों में बहुत अधिक चतुर होते हैं। इससे संबद्ध 'जट विद्या' मुहावरा भी प्रसिद्ध है। यह प्रायः अशिक्षित, सीधे-सच्चे तथा परिश्रमशील स्वभाव के होते हैं। यह अपनी 'खुशामदी प्रवृत्ति' के लिये भी प्रसिद्ध हैं—

"जाट कहै सुन जाटणी, इसी गाँव में रहना।
ऊँट बिलइया ले गई, हाँ जी हाँ जी कहना।"

गूजर जाति—यह कुरु प्रदेश की जाट के समान ही प्रसिद्ध कृषक तथा परिश्रमी जाति है जो बहुत बलवान् होती है। इस प्रदेश में इस जाति के लोगों का बाहुल्य है।

ये अपनी स्पष्टवादिता और अक्खड़ स्वभाव के कारण झगड़ालू होते हैं तथा किसी से नहीं दबते, जिसके कारण अन्य सभी जातियाँ इनका लोहा मानती हैं। परन्तु ये कठोर और निर्दयी नहीं होते। इनका चरित्र सिंह के समान होता है जो अकारण ही किसी से झगड़ा नहीं करता, पर फिर अवसर पड़ने पर पीछे भी नहीं रहता। जाट, गूजर जातियाँ सहोदरा हैं और बोलचाल तथा रहन-सहन में भी उनका प्रयोग एक साथ ही होता है, जिस तरह ब्राह्मण-बनिये। इनके संबंध में कहावत है—

"अहीर, गूजर, कंजर, कुत्ता, बिल्ली, बंदर।
ये छऊ ना होते तो खोल खिड़कियाँ सोते॥"

जाट और गूजर यह दो जातियाँ कुरु प्रदेश की विशेष जातियाँ हैं।

ब्राह्मण जाति—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में तो ब्राह्मणों को ही सर्वोच्च स्थान मिला है। ब्राह्मणों की कुछ विशिष्टताएँ भी हैं। इनकी अनेक उपजातियाँ हैं। उदाहरण के लिये 'तगे' ब्राह्मण पूर्वी ज़िलों में कम मिलते हैं। ब्राह्मण स्वभाव से ही अहंवादी होते हैं। वह अपने को बहुत चरित्रवान्, विद्वान् और पवित्र समझते हैं तथा अन्य को हेय। आज के युग में भी ये समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये रखना चाहते हैं। ये ईर्ष्यालु एवं क्रोधी तथा कुछ हद तक रूढ़िवादी और संकीर्ण विचारों वाले होते हैं। इसका आभास इनके सामाजिक आचार-विचारों से मिलता है। ये अपनी निश्चित सीमाएँ निर्धारित कर लेते हैं। प्रायः ये अपनी ही जाति के विरोधी प्रमाणित होते हैं—

"बाम्मन, कुत्ता, हाथी, ये न जात के साथी।"

तथा—"तीन कनौजिया तेरह चूल्हे।"

इनको सदा देर से बुद्धि आती है—

"साठ बरस में बुद्धि आवै।"

ये अपनी मिष्टान्नप्रियता, भिक्षावृत्ति, सीधेपन तथा दक्षिणा-प्राप्ति की लोलुपता के लिये प्रसिद्ध हैं—

"बामन हाथी चढ़ा भी माँगै।"

इनकी मिष्टान्नप्रियता के लिये यह कहावत प्रसिद्ध है—

"आये कनागत फूलै काँस। बामन उछलै नौ नौ हाथ॥
गये कनागत टूटी आस। बामन रोवै चूल्हे पास॥"

बनिया जाति—बनिया व्यापारी जाति है और व्यापार जगत् में ये अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये जीवन में धन को ही विशेष महत्त्व देते हैं तथा इसी का उपार्जन करना ये अपने जीवन का उद्देश्य समझते हैं। व्यापार के समय ये मित्रों का तथा संबंधियों का भी लिहाज़ नहीं करते और उन्हें भी आड़े हाथ ही लेते हैं। ये सभी को एक ही तराज़ू पर तोलते हैं—

"जाण मारै बाणिया, अनजान मारै चोर।"

ये स्वभाव से बहुत ही ग्रहणशील प्रवृत्ति के होते हैं। इसीसे इनको 'कंजूस' या 'मक्खीचूस' विशेषण से विभूषित किया गया है। ये अपना धन तो कठिनाई आने पर, बीमार होने पर, विवाह में या धर्म में ही खर्च करते हैं। कहावत है—

"आम, नींबू, बानिया, चापैं तै रस देय।"

यह स्वभाव से ही व्यापारी प्रवृत्ति के होते हैं। तभी तो कहते हैं कि "बनिया स्वर्ग में भी जाये तो वहाँ व्यापार करने की ही बात सोचेगा।"

बनिया अपने स्वार्थ के लिये सब कुछ करने को तैयार रहता है और अपने पदाधिकारियों को घूस देकर काम बना लेता है। कहते हैं अगर स्वर्ग में भी घूस चलती तो बनिया कभी नहीं मरता। वह बहुत अवसरवादी व व्यापारकुशल होते हैं। "बनिये का बेटा कुछ देखकर ही गिरता है।"

बनियों में बहुत-सी उपजातियाँ हैं, जिनमें सबसे उच्च अग्रवाल बनिये समझे जाते हैं और उनमें भी गर्ग गोत्र वाले। इसकी पुष्टि लोकोक्तियों से होती है—

"गर्ग गोयले बाकी सब कोयले"

कायस्थ जाति—कायस्थ वाक्-चातुर्य एवं व्यवहारज्ञान के लिये प्रसिद्ध हैं तथा चालाकी एवं व्यर्थ की शान दिखाने के लिये विख्यात हैं। इनमें आपस में बहुत प्रेम होता है तथा जातिगत पक्षपात भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है—

"कायस्थ, कौआ, कूबरा, ये तीनों मिल खाँय"

यह अवसरवादी और स्वार्थ के साथी होते हैं तथा विश्वासपात्र नहीं होते—

"कायथ मीत ना कीजिये, सुन कंथा नादान।
राजी हो तो धन हरै, बैरी हो तो प्रान॥"

कायस्थ बुद्धिमान होते हैं तथा इनपर लक्ष्मी जी से अधिक सरस्वती जी की कृपा रहती है, अतः यह अपनी तीक्ष्ण व तत्काल बुद्धि के लिये प्रसिद्ध हैं। 'कायस्थ खोपड़ी' मुहावरा भी इसी से प्रसिद्ध है। ये दूरदर्शी होते हैं।

नाई जाति—हिंदुओं में विवाह-शादी तथा मृत्यु दोनों ही अवसरों पर नाई की उपस्थिति अनिवार्य होती है। यह हर जाति की हजामत बनाता है।

इस जाति के लिये प्रसिद्ध है कि यह बहुत चालाक होती है। नाई का विश्वास नहीं किया जाता—

"मनुष्यों में नाई, पक्षियों में कौआ और जलचरों में कछुआ ये तीनों धोखे-बाज हैं।"

नारी संबंधी—कहावतों में नारी के विभिन्न रूपों पर प्रकाश पड़ता है। हमारे भारतीय समाज में कन्या का जन्म किसी भी परिवार के लिये दुर्भाग्य का विषय माना जाता है। शत्रु के यहाँ भी बेटी होने का संवाद सुनकर अनायास ही सहानुभूति में 'बेचारा' शब्द निकल जाता है। कन्याजन्म के संबंध में इसी कारण अधिक कहावतें आदि नहीं मिलतीं। अवसर से प्रभावित होकर कुछ अवश्य हैं—'बेटी भली ना एक'।

'बेटी का बाप' तो एक प्रचलित मुहावरा है जो हीन भाव का द्योतक है। इसके विपरीत एक कहावत ऐसी भी मिलती है जिसमें जेठी लड़की होना अच्छा बताया गया है—

"वो ही नार सुलच्छना जिसने जाई पहली लच्छमी"

नारी समाज यों तो हर रूप में ही पराधीन है पर वधू रूप में विशेष। इसी से कहा है—

"जोरू जोर की नहीं तो और की।"

या—"ठाड़े की जोरू सबकी दादी, माड़े की जोरू सबकी भाभी"

(अर्थात् बलवान की स्त्री का सभी आदर करते हैं, पर दुर्बल की स्त्री का सब मज़ाक करते हैं।)

नारी के लिये लज्जा एवं शील ही आदर्श माना जाता है।

"सोना पहरे ढांक के चलिये, पूत जनेगी नी के चलिये॥"

स्त्री का तो सबसे बड़ा सौभाग्य इसी में है कि वह अपने पति को प्रिय लगे—

"जिसको पिया चाहें वही सुहागन।"

स्त्री समाज में सपत्नी का होना असह्य माना जाता है।

"काँटा बुरा करील का और बदली का घाम।
सौत बुरी है चून की और साझे का काम॥"

नारी की संपूर्णता तथा प्रियता उसके पुत्रवती होने में ही है, तभी वह समाज में आदरणीया मानी जाती है। मातृत्व का जीवन में विशिष्ट स्थान है—

"दूध की गइया और पूत की मइया सबको प्यारी लगै।"

अपनी माँ की महत्ता बहुत अधिक है। उसके स्नेह की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और इसी से उसकी ताड़ना भी शुभचिन्तक होने के नाते सह्य होती है, जबकि अन्य किसी की भी असहनीय हो उठती है।

"अपनी माँ मारकर भी छाँ में डालेगी" या "अपनी माँ मारणी फिर भी दुद्धा-धारणी" संसार में माँ का ही एकमात्र निस्वार्थ प्रेम होता है—

"माँ पिसनहारी भी पाल लेती है, बाप लखपति भी नहीं।"

यहीं पर एक कहावत हमें अन्य संबंधों के विषय में भी मिलती है जिसके द्वारा प्रत्येक संबंध का तुलनात्मक अध्ययन होता है—

"आस का बाप निरास की माँ, होते की बहन, अनहोते का मित्र।"

अनमेल विवाह के संबंध में भी अनेक कहावतें मिलती हैं—

"बड़ी बहू बड़े भाग, छोटा दूल्हा घना सुहाग।"

नारी-समाज में सास-बहू के झगड़े शाश्वत हैं। इसके मूल में अधिकार-भावना ही है। सास गृह-स्वामिनी के अधिकार को सरलता से छोड़ना नहीं चाहती। एक मात्र मृत्यु ही उसको छुड़ा सकती है और बहू स्वाभाविक रूप से अधिकार को प्राप्त करना चाहती है। यह प्रभुत्व की भावना ही सास-बहू के संघर्ष का मुख्य कारण है।

'सास मरी बहू को ठौर''

फूहड़ बहुओं पर सास की उक्ति है—

''फूहड़ चलै नौ घर हिलैं''

''फूहड़ का मैल फागण में उतरै''

माँ-बेटी का निरंतर साहचर्य होने के कारण उनमें बहुत निकटता व अभिन्नता होती है। माँ को निरन्तर बेटी से अपने सभी कार्यों में सहायता मिलती है, परंतु बेटी 'पराया धन' समझी जाती है और विवाह के पश्चात् वह अपने घर चली जाती है, जिसके कारण वृद्धावस्था में माँ को अकेले सब भार उठाना पड़ता है। वह बेटी को अपना दाहिना हाथ मानती है।

''धी की माँ राणी, बुढ़ाप्पे में भरेगी पाणी ''

अन्य संबंधों के ऊपर भी अनेक लोकोक्तियाँ उपलब्ध हैं—

''राँडा ससुर सबको भावै, राँडी सास किसी को ना भावै।''

''बहन के घर भाई कुत्ता, ससुर घर जमाई कुत्ता।''

''सब कुत्तों का सरदार, जो बाप रहे धी के द्वार।''

''दूर जमइया फूल बराबर, शहर जमइया आधा।

घर जमइया गधा बराबर, मन आया जब लाधा।''

इन कहावतों में मानवीय भावनाओं तथा व्यावहारिक रीति-रिवाजों का बहुत ही सूक्ष्म निरीक्षण और वर्णन है।

लोक-विश्वास सम्बन्धी लोकोक्तियाँ

जन-जीवन लोक-विश्वासों से ओत-प्रोत है। आधुनिक शिक्षित लोग बिना अनुभव की कसौटी पर कसे 'अंध विश्वास' कह कर इनकी उपेक्षा करते हैं। पर ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं के आधार पर शकुन तथा अपशकुन की गणना की जाती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अपशकुन पर विचार करने वाले व्यक्ति के मन में कोई मानसिक ग्रंथि रहती है। रहस्यमय भविष्य के अज्ञान के कारण आशंका से मनुष्य अपशकुनों की ओर उन्मुख होता है। अनागत घटनाएँ शकुनों के रूप में पूर्वाभास दे जाती हैं। शकुन में विश्वास करने वाले मानते हैं कि शकुन चाहे भविष्यवाणी न कर सकें पर वह चेतावनी के रूप अवश्य हैं, जिनसे लाभ उठाया जा सकता है।

इनका सम्बन्ध कार्य से नहीं, सामाजिक संस्कारों से होता है। जिस जाति में जिस मनुष्य का जन्म हुआ वह उस जाति के विश्वासों, भावनाओं आदि को उत्तराधिकार के रूप में अनायास ही प्राप्त कर लेता है। मनुष्य जो कुछ बचपन से निरंतर सुनता आता है उस पर अविश्वास नहीं कर पाता। इसी से ये धारणायें मान्य होती हैं।

यात्रा-सम्बन्धी शकुन

''सोम सनीचर पूरब काला''

''पड़वा गमन ना कीजै जो सोने की होय''

"मंगल करै दंगल, बुध बिछोह होय ।
जुम्मेरात की खीर खाके, जुम्मे को जाना होय ।।"

नया कपड़ा पहनने के सम्बन्ध में लोग कहते हैं—

"कपड़ा पहरैं तीन बार,
बुध, बृहस्पत, शुक्कर
भूले चूके रविवार"

तेरस और तीज ये दो दिन शुभ माने जाते हैं ।

शारीरिक अंग-विकार सम्बन्धी अनेक शकुन प्रचलित हैं ।

"काना व्यक्ति देखना अशकुन ।"

भूरी आँख एवं छोटे दद व गर्दनवाले व्यक्ति विश्वासघाती समझे जाते हैं ।

इन्द्रिय सम्बन्धी—आँख, हाथ या कोई भी अंग फड़कना विशिष्ट घटना का सूचक है । छींक यद्यपि एक स्वाभाविक क्रिया है, परन्तु इसके सम्बन्ध में भी अवसर के अनुसार अनेक धारणायें हैं ।

कुछ व्यक्ति विशेष शुभ या अशुभ समझे जाते हैं । विधवा अशुभ तथा सुहागिन एवं लड़के-सहित स्त्री शुभ मानी जाती है । यात्रा में शव देखना शुभ है । दाहिनी ओर बैल देखना शुभ है । नीलकंठ शुभ शकुन वाली चिड़िया है । बछिया सहित गाय तथा सुसज्जित हाथी को शुभ मानते हैं । बिल्ली का रास्ता काटना, उल्लू का बोलना और कुत्ते का रोना निश्चित रूप से अशुभ है ।

जाति सम्बन्धी, नारी सम्बन्धी तथा लोक-विश्वास सम्बन्धी लोकोक्तियों के अतिरिक्त खान-पान सम्बन्धी और स्वास्थ्य सम्बन्धी लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं । इनके नियमों के अनुसार चलने से स्वस्थ तथा सुखी रहने में सहायता मिल सकती है तथा लाभ उठाया जा सकता है ।

"नींबू का अचार जितना पुराना हो उतना ही अच्छा होता है ।"
"थोड़ा खाया अंग बधाया"
"भादवै का मट्ठा कुत्तों को, और कात्तक का पुत्तों को"
"किसी को बैंगन बायले, किसी को बैंगन पथ्य"
"सावन करेला, भादौं दही, मौत नहीं तो जहमत सही ।"
"आँत भारी सो गात भारी"

कुछ मनोवैज्ञानिक कहावतें भी मिलती है । कुछ कहावतों के द्वारा मानव-मन का भली प्रकार अध्ययन किया जा सकता है । उनमें जीवन की व्यावहारिक सच्चाई इस प्रकार अभिव्यक्त होती है कि उनके द्वारा मानव के अचेतन मन की प्रक्रियाओं का भी आभास मिल जाता है ।

आदत मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाती है जिससे जानते हुए भी बचना संभव नहीं होता ।

"चोर चोरी करने से गया तो क्या हेरा फेरी से भी गया।"
"कुत्ते की पूँछ बारह बरस तक दबी रही फिर भी टेढ़ी की टेढ़ी।"

प्रायः देखा जाता है कि अभावग्रस्त या हीन भाववाला व्यक्ति ही अपनी प्रशंसा के हेतु कुछ ऐसा अनोखा काम करता है जिससे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। मनुष्य की यह स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि वह दूसरों की दृष्टि में नगण्य नहीं रहना चाहता। कहावत है—

"कमाऊ आवै डरता, निखट्टू आवै लड़ता।" तथा "थोथा चना बाजै घना।"

प्रायः मनुष्य दोषी होते हुए भी अपने दोष को स्वीकार करने का साहस इसलिए नहीं करता कि कहीं वह दोषी ठहरने पर दूसरों की दृष्टि में नीचे न गिर जाये।

निर्धन व्यक्तियों का भाग्यवादी दृष्टिकोण उनके अभावपूर्ण जीवन को सरस तथा विषम परिस्थितियों के प्रति सहिष्णु और संतोषी बनाता है। वह विश्वास करते हैं—

"जो छठी की रात को लिख गया वह अमिट हो गया।"
"लिखे लेख नहीं मिटते।"

इनमें कर्मवाद भी कूट-कूट कर भरा रहता है। जन्मान्तर-व्यवस्था तथा कर्म-सिद्धान्त की जड़ भारत में बहुत मजबूत है। उसी के फलस्वरूप अपनी स्थिति से संतोष कर लेना हमारी प्रवृत्ति बन गयी है। 'हरि इच्छा बलवान है' कहकर भली-बुरी सभी बातों को स्वीकार कर लेना हमारा स्वभाव हो गया है। ऐसा कहा जाता है कि—

"अनहोनी होती नहीं, होनी होय सो होय।"
"जन्म घड़ी और मरण घड़ी टाले नहीं टलती।"
"करमहीन खेती करै, बैल मरे या सूखा परै।"
"काणी के ब्याह को सौ जोक्खों।"
"रूप की रोवैं भाग की खावैं।"
"अपनी-अपनी करनी सब भोगें।"
"माँ ने जाये सात-पूत, कोई हाली कोई बालधी
कोइ करै बिगान्नी आह।"
"राजा की बेटी करम की हेठी।"
"दे दो बावल भाड़ में,
अर खावेंगी अपने कपाल में।"
"कदी घी घणा, कदी मुट्ठी भर चणा,
अर कदी वो भी मना।"

कुछ कहावतें ऐतिहासिक तथ्यों से भी पूर्ण मिलती हैं, जिनके द्वारा इतिहास पर या क्षेत्रीय विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ कहावतों में स्थान-स्थान पर राजा भोज का उल्लेख मिलता है, जैसे—

"कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली।"

"राजा भोज भरम के मारे,
घर-घर बार मटियाले चूल्हे।"

लोकोक्तियों से सम्बन्धित प्रायः कोई न कोई लोक-कथा भी होती है और उसी का चरम वाक्य कहावत बन जाती है।

"टोट्टे तेरे तीन नाम, लुच्चा, भड़वा, बेईमान।"

कुछ कहावतों के द्वारा भाषाविज्ञान सम्बन्धी तथ्यों का पता चलता है तथा उस दृष्टि से अध्ययन के लिए ये कहावतें महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं।

कौरवी बोली दित्वप्रधान है जिसका वास्तविक रूप हमें लोकोक्तियों में मिलता है—

"ठाड़े की जोरू सब की दाद्दी अर माड़े की जोरू सब की भाब्बी।"

दित्व के अतिरिक्त वर्णसंयुक्ति भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है, जैसे—देख्या, कर्‌या, सुन्या आदि।

"सब दिन चंगी तिव्हार के दिन नंगी।"

कौरवी बोली में 'है' के स्थान पर आवै, जावै, खावै आदि भी प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

अंत में हम प्रकीर्ण कहावतें देते हैं जिनमें इस प्रदेश विशेष के आचार-विचार, रीति-रिवाज एवं नीति सम्बन्धी भावनायें तथा विविध विषयों सम्बन्धी कहावतें हैं। इनके द्वारा इस प्रदेश की विशेषता का आभास मिलता है। कौरवी लोगों का स्वनिर्मित नीतिशास्त्र है जिससे पथ-प्रदर्शन होता है—

"बड़े का कहा और आँवले का खाया पीछे से मीठा लगता है।"

"दूरों फूल सुहावने, धोरे आये कुम्हलाये।"

"थोड़ा खाया अंग लगाया, बौहता खाया अंग बधाया।"

"त्यों नारी का काम ना करै, अर फूहड़ के लौंडे को न खिलाये।"

"कामिलो सो लाड़िलो।"

"सीखै री सीख पड़ोसिन की, घर में सीख जिठानी की।"

"गुरु कीजै जान, पानी पीजै छान।"

"ना अंधे को नौत्तें अर ना दो जने आयें।"

"मोहब्बत दूर की, खटाई अमचूर की।"

"धरा ढका तो भूल जा, लिखा ना भूला जा।"

"एक दिन पाहुना, दूसरे दिन अनभावना।"

इस प्रकार कौरवी की लोकोक्तियों का वर्गीकरण कर हम उसे सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध देखते हैं।

लोकोक्तियों के रचियता जीवन-द्रष्टा होते हैं। जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओं ने ही कहावतों को जन्म दिया।

कौरवी पुरुषार्थी लोगों की बोली है, जिनका व्यवसाय साधारणतया कृषि है। जीवन की सब सुख-सुविधाओं से पूर्ण तथा स्वस्थ ये लोग बड़े मसखरे तथा प्रत्युत्पन्न-मति होते हैं। इनकी बोली में हास्य-व्यंग्य तो मानो पुञ्जीभूत हो गया है।

साहित्यिकता की दृष्टि से कौरवी के मुहावरे और लोकोक्तियाँ अत्यंत सारगर्भित हैं। इनका चयन कर हम हिन्दी को अधिक समृद्ध बना सकते हैं। इस प्रदेश की बोली अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना से अधिक सम्पन्न है और प्रायः लोग गूढ़ार्थ भाषा का प्रयोग करते हैं।

कहावतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में किसी भी जाति की सभ्यता तथा संस्कृति का उच्च स्वरूप उसकी बोली में प्रचलित कहावतों से ही जाना जा सकता है। कहावतों में अतीत काल के अनुभव और ज्ञान बीज रूप में सुरक्षित रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कौरवी-लोकोक्तियाँ अपने में पूर्ण हैं, यद्यपि उनका संकलन और अध्ययन अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है।

पुस्तक-समीक्षा

लोक-साहित्य की भूमिका

लेखक—डा० कृष्णदेव उपाध्याय एम-ए०, पी० एच०, डी०। भूमिका लेखक—डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डि० लिट्, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। प्रकाशक—साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ संख्या–३१८+१६। मूल्य ७॥)।

किसी देश की वास्तविक संस्कृति उस देश के लोक-साहित्य में अन्तर्निहित होती है। अतः इस संस्कृति के सम्यक् ज्ञान के लिए लोक-साहित्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस देश में लोक-संस्कृति तथा लोक-साहित्य के अनुसन्धान की परम्परा चिरकाल से अपेक्षित रही है, परन्तु हर्ष का विषय है कि अधिकारी विद्वानों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट हो रहा है। हिन्दी भाषा की विभिन्न बोलियों में सुरक्षित लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं का संकलन और प्रकाशन इधर अनेक विद्वानों ने किया है। मुहावरों, कहावतों तथा पहेलियों पर भी अनुसन्धान कार्य हो रहा है। विश्वविद्यालयों में अनेक शोधी छात्र लोक-साहित्य के विभिन्न अंगों को लेकर शोध-कार्य कर रहे हैं। परन्तु एक ऐसे ग्रन्थ का अत्यन्त अभाव था जिसमें लोक-साहित्य के विभिन्न अवयवों—लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा, लोक-नाट्य आदि का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया हो। लोक-गाथा की उत्पत्ति तथा उसका विकास, उसके विभिन्न भेद, उसकी विशेषतायें, लोक-गीतों के वर्गीकरण के सिद्धान्त, लोक-कथाओं की विशिष्टता, कहावतों के मौलिक तत्व आदि विषयों की विवेचना प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ की कमी हिन्दी में खटक रही थी। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने इस ग्रन्थ को लिखकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। इन्होंने अपनी इस रचना से लोक-साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। अनेक विश्वविद्यालयों में लोक-साहित्य वैकल्पिक रूप में अध्ययन का विषय स्वीकृत हो चुका है। परन्तु इसके अध्ययन अध्यापन के लिए एक ऐसे पाठ्य ग्रन्थ की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था जिसमें लोक-साहित्य के सैद्धान्तिक स्वरूप की विशद तथा प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत की गई हो। मेरा विश्वास है कि इस अभाव की पूर्ति एक बड़ी सीमा तक प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा होती है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल १४ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय—लोक-साहित्य का संकलन—में लोक-साहित्य के विभिन्न अवयवों का संकलन किस प्रकार से करना चाहिये, इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों की क्या योग्यता होनी चाहिए तथा उनके लिए कौन-कौन से उपादान सहायक एवं साधक सिद्ध होंगे—इन विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों—जैसे ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी आदि में लोक-साहित्य के सम्बन्ध में आज तक जो शोध तथा संग्रह-कार्य हुआ है उसका वर्णन दूसरे अध्याय का विषय है। इस परिच्छेद के द्वारा पाठक हिन्दी की बोलियों में

सुरक्षित लोक-साहित्य सम्बन्धी वाङ्मय से पूर्णतया परिचित हो सकते हैं। तृतीय अध्याय में लोक-साहित्य का वर्गीकरण किया गया है। इस साहित्य को किन-किन सिद्धान्तों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है, दूसरे विद्वानों के द्वारा किया गया वर्गीकरण किस प्रकार डा० उपाध्याय के द्वारा प्रस्तुत श्रेणियों में अन्तर्भुक्त हो जाता है यह दिखलाने का प्रयास किया गया है। चौथे अध्याय में लोक-गीतों का विवेचन है। लोकगीतों के विभिन्न भेदों—संस्कार, ऋतु, व्रत, जाति तथा श्रम गीतों—का वर्णन कर उनसे सम्बन्धित विधि-विधानों तथा विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के पढ़ने से पाठकों के सामने लोकगीतों के विभिन्नता तथा प्रचुरता का दृश्य प्रस्तुत होता है। पाँच, छः और सात अध्यायों में लोक-गाथा का प्रामाणिक, मौलिक तथा गम्भीर विवेचन है। लोक-गाथाओं की मीमांसा करते हुए विद्वान् लेखक ने लोक-गाथा के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए इनकी मुख्य विशेषताओं का विशद वर्णन किया है। लोक-गाथाओं की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न पाश्चात्य मनीषियों के मतों की समीक्षा करते हुए उपाध्याय जी ने 'समन्वयवाद' नामक अपने निजी मत का भी प्रतिपादन किया है, जो लोक-गाथा के विकास के सम्बन्ध में अधिक समीचीन ज्ञात होता है। लोक-गाथाओं के विभिन्न प्रकारों या भेदों का वर्णन पाश्चात्य लोक-साहित्य के पण्डितों ने बड़े विवेक के साथ अपने ग्रन्थों में किया है। इस दिशा में डा० गूमर तथा प्रो० कीट्रीज का कार्य प्रशंसनीय है। विद्वान् लेखक ने पाश्चात्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पौर्वात्य विद्वानों के सिद्धान्तों की भी चर्चा की है।

आठवें अध्याय में लोक-कथाओं का विश्लेषण किया गया है। भारत में लोक-कथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। हमारे प्राचीन कथाकारों ने बृहत्कथा, कथा-सरित्सागर, पंचतन्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इन कथाओं का अनुवाद संसार के अन्य देशों की भाषाओं में हुआ है। इस प्रकार भारत कथा-साहित्य के क्षेत्र में संसार का गुरु रहा है। लोकगीतों के ही समान लोक-कथाओं के भी अनेक भेद पाये जाते हैं, जिसका वर्गीकरण तथा जिनकी विशेषताओं का प्रतिपादन इस अध्याय का विषय है। प्रकीर्ण साहित्य (नवें अध्याय) के अन्तर्गत लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों, सूक्तियों के अतिरिक्त, लोरियों तथा पालने और खेल के गीतों का वर्णन किया गया है। पाठकों के इस विषय को हृदयंगम कराने के लिए स्थान-स्थान पर गीतों के उदाहरण भी दिये गये हैं।

दसवें अध्याय में लोक-साहित्य में उपलब्ध काव्यत्व पर विचार किया गया है। बहुत से विद्वानों का यह मत है कि लोकगीतों में काव्य के तत्वों का अभाव है। इनमें वे उच्च भावनायें नहीं पाई जातीं जो शिष्ट काव्य में उपलब्ध होती हैं। डा० उपाध्याय ने अनेक उदाहरणों के द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि लोकगीतों में अलंकार-योजना भी उपलब्ध होती है और इनमें करुण, शृङ्गार, शान्त, हास्य आदि रसों का मधुर परिपाक भी पाया जाता है। लोकगीतों में जो अलंकार उपलब्ध होते हैं वे अनायास प्रयुक्त हुए हैं। लोक-कवियों के उपमानों में वह विशेषता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।

लोक-साहित्य में लोक-संस्कृति का जो चित्रण उपलब्ध होता है वह अत्यन्त स्वाभाविक, सुन्दर तथा हृदयहारी है। सामाजिक जीवन को चित्रित करने में लोक-कवि को कमाल हासिल है। सास तथा बहू का झगड़ा, ननद तथा भावज का शाश्वत संघर्ष, सौतिया डाह आदि का सजीव वर्णन इन गीतों में किया गया है। इनका अध्ययन करने से यह भी पता चलता है कि इनमें जिस समाज का वर्णन किया गया है वह अत्यंत समृद्ध तथा सुखी है। इन गीतों में धार्मिक जीवन की झाँकी भी देखने को मिलती है। भारतीय संस्कृति की समान भावधारा के दर्शन के लिये इनका अध्ययन अत्यन्त उपादेय है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज-कल के यान्त्रिक युग में जब मानव के आदर्शों का मूल्य अत्यन्त कम हो गया है, लोक-साहित्य के अध्ययन की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर बारहवें अध्याय में विस्तार से दिया गया है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी दृष्टियों से इस लोक-साहित्य का संकलन तथा प्रकाशन उपादेय है। 'उपसंहार' नामक अन्तिम अध्याय में इस निबन्ध पर प्रकाश डाला गया है कि लोक-कवि ने किस प्रकार यथार्थवाद का सामञ्जस्य किया है। पुस्तक के अन्त में लोक-संस्कृति से सम्बन्धित उन उपादेय ग्रन्थों की सूची दी गई है जो वर्तमान भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी में प्रकाशित हुए हैं। लोक-साहित्य के जिज्ञासु जनों के लिये यह सामग्री अत्यन्त उपयोगी है।

लोक-साहित्य के सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। डा० उपाध्याय ने इस ग्रन्थ को लिख कर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है लोक-साहित्य के संकलन का कार्य बड़ी द्रुतगति से हो रहा है। अतः यह उचित ही है कि इसके सिद्धान्त पक्ष को लेकर ग्रन्थों की रचना की जाय। इस कारण इस मौलिक ग्रन्थ का हम हृदय से स्वागत करते हैं। डा० उपाध्याय ने 'भोजपुरी लोक-गीतों' का संकलन कर तथा 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन' नामक मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में प्रचुर ख्याति प्राप्त की है। अतः उनकी लेखनी से लिखे गये इस ग्रन्थ की मौलिकता तथा प्रामाणिकता सन्देह से परे की वस्तु है।

इस पुस्तक में लोकनाट्यों का वर्णन बहुत कम हुआ है। इसी प्रकार लोक-कथा वाले अध्याय में 'मोटिव' तथा 'टाइप' का संक्षिप्त उल्लेख करना चाहिए था, जो नहीं हुआ है। आशा है अगले संस्करण में इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। अन्त में हम डा० उपाध्याय को इस ग्रन्थ-रत्न की रचना के लिये बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि लोक-साहित्य के विद्वान् इसका समुचित स्वागत करेंगे।

श्रीकृष्ण दास
२ डी, मिन्टो रोड,
इलाहाबाद

भोजपुरी लोक-साहित्य : एक अध्ययन

लेखक—श्री बैजनाथ सिंह विनोद। भूमिका लेखक—डा० धीरेन्द्र वर्मा।
प्रकाशक—ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड पटना। पृष्ठ २३५,। मूल्य ५)। सन् १९५८ ई०।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों में लोक-साहित्य का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। यह बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि अनेक विद्वान् इस बहुमूल्य साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रशंसनीय प्रयास कर रहे हैं। हिन्दी भाषा की बोलियों में जितना अधिक तथा ठोस अनुसन्धान कार्य भोजपुरी में हो रहा है उतना संभवतः राजस्थानी को छोड़ कर अन्य किसी बोली में नहीं। अनेक विद्वानों ने भोजपुरी के भाषा पक्ष तथा साहित्य पक्ष को लेकर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। डा० उदयनारायण तिवारी ने अपनी पुस्तक 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' में भोजपुरी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन' शीर्षक अपनी मौलिक रचना में भोजपुरी लोक-साहित्य के विभिन्न अवयवों की प्रामाणिक मीमांसा की है। डा० सत्यव्रत सिनहा की 'भोजपुरी लोक-गाथा' में प्रबन्धात्मक गीतों पर प्रकाश डाला गया है। श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी कवि और काव्य' लिखकर भोजपुरी साहित्य की अमूल्य सेवा की है। श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' की प्रस्तुत पुस्तक—'भोजपुरी लोक-साहित्य : एक अध्ययन—इसी परम्परा में एक प्रशंसनीय प्रयास है। लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना कर भोजपुरी साहित्य की सेवा की है। प्रारम्भ में भोजपुरी प्रदेश का इतिहास संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। अगले दो अध्यायों में भोजपुरी भाषा और उसकी विभिन्न विभाषाओं का परिचय पाठकों को दिया गया है। लोक-गाथाओं का वर्णन करते हुए विद्वान् लेखक ने भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित प्रबन्धात्मक गीतों की चर्चा की है। 'भोजपुरी लोक-गीतों में समाज' तथा 'लोक-कहानियों में सामाजिक तत्व' ये दोनों अध्याय अत्यन्त मौलिक हैं। इससे विनोद जी के गम्भीर अध्ययन का पता चलता है। इसके बाद के चार अध्यायों (७–१०) में भोजपुरी समाज में प्रचलित संस्कार तथा व्रत सम्बन्धी विधि-विधानों का वर्णन कर उनसे सम्बद्ध लोक-गीतों का उल्लेख किया गया है। जन-जीवन में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। उनके लोकगीत राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इस विषय की विशद मीमांसा 'विनोद' जी ने प्रमाण-पूर्वक की है। 'लोक-साहित्य तथा परिनिष्ठित साहित्य' नामक अन्तिम अध्याय में लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि शिष्ट साहित्य के अनेक अवयवों का मूल लोक-साहित्य में उपलब्ध होता है। लेखक ने संक्षिप्त रूप में भोजपुरी भाषा और साहित्य का एक विहंगम दृश्य पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस सफलता पर हम 'विनोद' जी को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस पुस्तक का समुचित रूप से स्वागत करेगा।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय
६१ लूकरगंज, प्रयाग

लोक-साहित्याची रूपरेखा

लेखिका—सुश्री दुर्गा भागवत; प्रकाशक—श्री वासुदेव विष्णु भट, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय ठाकुर द्वार, मुम्बई २; पृष्ठ संख्या ५२६; कीमत १०)

यह पुस्तक मराठी में लिखी गयी है। मराठी में लोक-साहित्य पर अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। हिन्दी में शायद इस ढंग की पुस्तक नहीं ही है। लोक-साहित्य का संग्रह, उसका पृथक्करण एवं अर्वाचीन पद्धति से उसका विश्लेषण करने का कार्य पाश्चात्य विद्वानों ने ही गत डेढ़ सौ वर्षों से प्रारम्भ किया है। भारतीय लोक-साहित्य पर भी पाश्चात्यों ने और विशेषकर अंग्रेजों ने ही अब तक मुख्यतः कार्य किया है। भारतीय विद्या (Indology) के अध्ययन के साथ ही भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन एवं संकलन की प्रेरणा मिली। सन् १७८४ में कलकत्ता सर्वोच्च न्यायालय के विचार पति विलियम जोन्स ने बंगाल में एशियाटिक सोसाईटी की स्थापना की। लगभग इसी ढंग की एक संस्था सन् १८०४ में बम्बई में गठित की गयी। फिर सन् १८२१ में उक्त उद्देश्य को लेकर ही ब्रिटेन में रोयल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हुई। इन्हीं संस्थाओं की ओर से जहाँ भारत की संस्कृति परम्परा आदि के सम्बन्ध में व्यापक कार्य हुआ वहाँ भारतीय लोक-साहित्य के संग्रह एवं अध्ययन को भी प्रेरणा मिली। विदुषी लेखिका ने भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन की दिशा में इस प्रकार किये गये कार्य का निरीक्षण किया है और साथ ही लेखों, पुस्तकों आदि की सूची भी दी है। विभिन्न लेखकों ने किस प्रकार का कार्य किया है इसका आपने संक्षिप्त परिचय भी दिया है। इतना ही नहीं, लोक-साहित्य पर इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों में किये कार्य का भी सुश्री दुर्गा भागवत ने अनुशीलन किया है।

लोक-साहित्य के अध्ययन की अर्वाचीन परम्परा से पाठकों को अवगत कराने के लिए आपने पुस्तक के पहले परिच्छेद में 'लोक-साहित्य का जागतिक अध्ययन क्षेत्र' शीर्षक के अन्तर्गत लोक-साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में अब तक विभिन्न देशों में किये गये कार्य एवं विभिन्न विद्वानों द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया है। स्नारी स्टर्लसन, डेनिश इतिहासज्ञ सॅक्सो, लोक, ग्रिमबन्धु, प्रिडरिश, मैक्स म्युलर, थिओडोर बेनफे इमेन्युएल कॉसकिन्, प्रोफेसर ह्रीस डेह्विड्स, सर जार्ज काक्स आदि लोक-साहित्य के विद्वानों के कार्य की चर्चा की गयी है। इस परिच्छेद से पाठक को लोक-साहित्य सम्बन्धी वर्तमान वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का कुछ अनुमान हो जाता है।

लोक-साहित्य को देखने की अर्वाचीन दृष्टि का संक्षेप में परिचय देने के बाद लेखिका ने इसी दृष्टि से भारतीय लोक-साहित्य को देखने की चेष्टा की है। भारतीय लोक-साहित्य वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध एवं अन्य धार्मिक साहित्य से अत्यधिक प्रभावित है। इसी को स्पष्ट करने के लिए लेखिका ने 'भारतीय परम्परा का परिचय' नामक परिच्छेद में लिखा है कि 'भारतीय संस्कृति की प्राचीन एवं बहुविध परम्परा, प्राचीन भारतीय वाङ्मय की समृद्धि तथा पारम्परिक वाङ्मयीन एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को चिरंतन करने का भारतीय के गुण को ध्यान में रखने पर भारतीय लोक-साहित्य की परम्परा की प्राचीन ग्रन्थनिविष्ट पार्श्वभूमि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।' इसी कारण 'भारतीय परम्परा का परिचय' शीर्षक वाले परिच्छेद में लेखिका ने उक्त धार्मिक ग्रन्थों की चर्चा की है और कहा है कि 'ग्रन्थनिविष्ट कथा-साहित्य को लोक-साहित्य के अध्ययन में इतना महत्व प्राप्त होने का कारण यह है कि संसार के किसी भी अन्य सुसंस्कृत राष्ट्र के पूर्व प्राचीन-काल से ही भारतीयों ने अद्भुत कथा, कल्पित कथा, प्राणिकथा-कहानियाँ आदि को अभिजात चिरन्तन वाङ्मय का स्वरूप देकर ग्रन्थबद्ध किया है।' परम्परागत कथा-साहित्य तीन प्रकार से ग्रन्थनिविष्ट किया गया है। पहला धार्मिक ग्रन्थों तथा रामायण-महाभारत जैसे ग्रन्थों में मूल कथा के आधार पर अथवा बोधरूप से ग्रथित की गयी कथाओं का है। वेद वाङ्मय पाली त्रिपिटक, जैन चूर्णी तथा पुराणों में अनेक कथाएँ मिलती हैं। उनका समावेश इसी वर्ग में होता है। दूसरा प्रकार स्वतन्त्र कथा-संग्रहों का है। बौद्ध जातक, जैन कथा कोश, पञ्चतन्त्र, कथा-सरित्सागर, वैताल पचीसी, सिंहासन बतीसी, शुकबहत्तरी, हितोपदेश आदि कथा वाङ्मय का इस दूसरे वर्ग में समावेश होता है। तीसरा प्रकार पारम्परिक अद्भुत कथाओं को ललित वाङ्मय-स्वरूप देनेवाले वाङ्मय का है। दण्डी का दशकुमार चरित, बाण की कादम्बरी, सुबन्धु की वासवदत्ता इसके अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं।

पारम्परिक वाङ्मय के संग्राहक शीर्षक वाले तीसरे परिच्छेद में लोक-साहित्य के संग्राहकों का परिचय दिया गया है। महीदास ऐतरेय तथा मार्कण्डेय की संक्षिप्त चर्चा करने के पश्चात् वररुचि एवं गुणाढ्य की विस्तार से चर्चा की गयी है। कथासरित्सागर एवं परिशिष्ट पर्व इन दो ग्रन्थों में उल्लिखित वररुचि सम्बन्धी वर्णन की चर्चा कर लेखिका ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वररुचि ने जो काव्य रचना की वह चाहे उसकी अपनी ही क्यों न हो उनका आधार पारम्परिक लोकगीत एवं लोक-काव्य ही थे। वररुचि ने स्त्रियों में प्रचलित गीतों को नया स्वरूप दिया। यही कारण था कि अन्तिम नर के अमात्य शकटाला ने वररुचि पर यह आरोप लगाया कि वह स्त्रियों के गीत सुनाता है उनमें नवीनता नहीं होती। जो भी हो वररुचि की कथा से यह स्पष्ट है कि लोक-साहित्य को आदर एवं गौरव प्राप्त होने के लिए भी शकटाला जैसे किसी पण्डित एवं महामान्य व्यक्ति के समर्थन एवं प्रोत्साहन की आवश्यकता होती ही है।

कथासरित्सागर के कथापीठ लंबक में गुणाढ्य सम्बन्धी कथा विस्तार से देकर लेखिका ने यह बताने की चेष्टा की है। गुणाढ्य ने विन्ध्यारण्य में घूम-घूम कर भूत, यक्ष,

राक्षस आदि की पैशाचिक भाषा में जो अनेक कहानियाँ एवं लोक-साहित्य सुना उन्हीं कथाओं का सात भागों में व्यवस्थित वर्गीकरण कर उनका संकलन किया। इस प्रकार यह सारा संकलन लोक-साहित्य का ही संकलन है। यहाँ भी इस लोकसाहित्य के संकलन को तब मान्यता मिली जब सोमदेव ने बृहत्कथा का अनुवाद संस्कृत में किया। इसी प्रकार जम्बू प्रभव वैमित्तिक बुद्धघोष आदि ने भी एक प्रकार से लोक-साहित्य का ही संग्रह किया है यह बताने का इस परिच्छेद में प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इस परिच्छेद में कुछ कथा संग्राहक स्त्रियों की भी चर्चा की गयी है।

चौथे, पाँचवें, छठे एवं सातवें परिच्छेद में सुश्री दुर्गाभागवत ने दैवतकथा, परिकथा अथवा अद्भुत कथा, दन्तकथा एवं कल्पित कथा शीर्षक दिया है। अंग्रेजी में जिन कथाओं को 'माइथालाजिकल टेल्स' कहा जाता है उनके लिए पौराणिक कथा न कहकर दैवत कथा कहना पसंद किया है। दैवत कथाओं का पृथक्करण इन्द्र कथा, उत्पत्ति कथा, प्रलय कथा, ज्योतिष कथा, सूर्य कथा, चन्द्र कथा, नक्षत्र कथा आदि में किया है। विभिन्न प्रकार की उत्पत्ति कथाओं की चर्चा कर यह संकेत किया है कि "मैं कैसे पैदा हुआ, यह सृष्टि कैसे अस्तित्व में आयी और इसका अंत क्या होगा" आदि मानव के अमर प्रश्नों में से इन कथाओं की उत्पत्ति हुई होगी। उत्पत्ति कथाओं सम्बन्धी भारतीय लोकसाहित्य की एक विशेषता बीज मन्त्र की कल्पना है। यह कल्पना आदिवासियों तक पहुँच चुकी है तथा आज भी कायम है। उत्पत्ति कथाओं में सामान्यतः किसी न किसी के शाप की चर्चा तथा पापमय वातावरण देखा जाता है। यही नहीं, किसी न किसी प्रकार के शाप के बिना मानव शरीर की रचना ही नहीं होती ऐसी धारणा इन कथाओं में रूढ़ दिखाई देती है। इन तथ्यों की चर्चा कर लेखिका ने प्रश्न किया है कि कामशास्त्र में मान्य संभोगपूर्व का आकर्षण और फिर उसके पश्चात् होने वाली स्वाभाविक घृणा तो इन कल्पनाओं के मूल में नहीं है? प्रलय कथाओं की चर्चा करते हुए सुश्री दुर्गाभागवत ने लिखा है कि जीवन का मृत्यु के साथ अभेद्य सम्बन्ध तथा मृत्यु में से जीवन के अंकुर का सृष्टि में अनाद्यतन व्यापार उत्पत्ति कथाओं के साथ प्रलय कथाओं की चर्चा हुए बिना पूरा नहीं होता। प्रलय कथाओं में सर्वत्र साम्य देखा जाता है। सभी कथाओं में प्रलय ईश्वरी कोप, आग अथवा पानी से होना देखा जाता है। भारत में आदिवासियों में प्रचलित प्रलय-कथाओं में मनु की कथा का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। ज्योतिष कथाओं में सूर्य, चन्द्र एवं अन्य नक्षत्रों की कथाएँ आ जाती हैं। इनमें संभवतः सूर्य चन्द्र सम्बन्धी कथाओं का प्राधान्य है। सारे संसार में इस प्रकार की असंख्य लोक-कथाएँ हैं। चन्द्रमा का क्षय और वृद्धि तथा चन्द्रमा के कलंक के कारण को किसी प्रकार स्पष्ट करने की कथाएँ सर्वत्र लोक-साहित्य में देखी जाती हैं।

परिकथा तथा अद्भुत कथाओं के संबंध में लेखिका का कहना है कि इनमें कल्पना का विस्तार संस्कृति के प्रगल्भ स्तर तक पहुँचता है, फिर भी इनके मूल में कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनका सम्बन्ध एकदम जंगली मानवी जीवन से रहता है। परिकथाओं

में कुछ बातों का वर्णन ऐतिहासिक वातावरण से एकदम अलग दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आदि मानवी पार्श्वभूमि के अवशेष इनमें सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी हो। यह सब कुछ होते हुए भी परिकथाओं का परिपोष संस्कृति के विकास पर ही निर्भर होता है। इस कथन में विरोधाभास दिखाई देने पर भी यह सत्य है। अपने इस कथन के समर्थन में लेखिका ने यह तर्क दिया है कि मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि भागों की जंगली जातियों में परिकथाओं का अभाव है। परिकथाओं में नायक-नायिकाओं को मायिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, आकाश-संचार सुलभ होता है, अदृश्य हो रूप बदलना आता है, कला, संगीत, नृत्य आदि में योग्यता प्राप्त होती है। मानव के साथ वे संभोग कर सकते हैं, दिन की अपेक्षा रात्रि-संचार उन्हें प्रिय होता है, आदि। भारतीय परिकथाओं में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, गुह्यक, राक्षस, विद्याधर, सर्प आदि अतिमानवी योनियों को स्थान मिलता है। इन कथाओं में अतिमानवी गुणों से युक्त पशु-पक्षियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। कहीं-कहीं पशु नायक नायिका का लालन-पालन करते हैं तो कहीं नायक अथवा नायिका स्वयं पशुरूप रहते हैं और फिर एकाएक मानव रूप ग्रहण करते हैं। नायक को पशु-पक्षी तथा अचेतन वस्तुएँ भी मदद करती हैं। इन कथाओं में सोने के महल, कल्पवृक्षों के बगीचे, सोना उगलने वाले पक्षी आदि रहते हैं।

दन्त कथा एवं कल्पित कथाओं के सम्बन्ध में भी दो स्वतन्त्र परिच्छेद दिये गये हैं। इनके पश्चात् प्रहेलिका अर्थात् पहेलियाँ, वाक्सम्प्रदाय, कहावतें आदि की चर्चा की गई है तथा बताया गया है कि लोक-जीवन में इनका कितना महत्वपूर्ण स्थान है और इनमें लोकजीवन की महत्वपूर्ण अनुभूतियां किस प्रकार निहित हैं। लोक-साहित्य में विनोदी कथा, बीभत्स कथा, धूर्त कथा, माला कथा आदि की भी चर्चा की गयी है। मुख्यतः मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं अन्य भाषा-भाषी लोककथाओं, लोकगीतों, कहावतों आदि के जहाँ तहाँ उदाहरण दिये गये हैं। लोकगीतों के भी कुछ उदाहरण दिये गये हैं। अन्य बातों के साथ-साथ लोक-साहित्य से कुछ अभावों की भी चर्चा की गयी है। वस्तुतः यह कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है कि जहाँ काले-काले भौंरों को लोकसाहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान मिलता है वहाँ रंग-बिरंगी तितली क्यों उपेक्षित है?

भारतीय लोक-साहित्य का व्यापक अध्ययन कर विदुषी लेखिका ने जो निष्कर्ष निकाला है उसे प्रस्तावना में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'वेदकाल से अबतक उपलब्ध कथागीत वाङ्मय का अध्ययन करते समय जो बात मुख्यतः ध्यान में आती है वह यह कि लोक-साहित्य के प्रांगण में जिस संस्कृति का दर्शन होता है वह वेदकाल से आज तक स्थान और कालभेद होते हुए भी एक ही प्रकार की है। भारतीय संस्कृति का अन्तरंग एक रूप है, वह अविभाज्य है। कालमान का अन्तर उसका यह रूप नहीं बदल सका है।'

भारतीय लोक-साहित्य अथाह है। इस ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान अब आकृष्ट होने लगा है। पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य का व्यापक संग्रह किया गया है तथा उसका पृथक्करण कर उसे व्यवस्थित रूप देते हुए अनेक सिद्धान्त भी स्थिर किये गये

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

जनवरी
ाप्त होती
सर्वाधिक
विभिन्न
लन हुए
रूपरेखा'
आदि
हराई के
षाओं में
ामाजिक
ान एवं
: बापट

समाजविज्ञान परिषद्, वाराणसी

उद्देश्य :

परिषद् का उद्देश्य भारतीय समाज का प्रजातिविज्ञान, मानवविज्ञान और समाजविज्ञान की दृष्टि से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन करना, और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए—

भारतीय जीवन के अनेक अंगों के गवेषणा-कार्यों का संचालन करना, देश और विदेश में गवेषार्थियों को छात्रवृत्ति देना।

गवेषकों अ ... ार्य के प्रतिफलों और स ... करना, समान उद्देश्यवाल ... । उनकी योजनाओं और ...

प्रत्येक व्य ... सदस्यता-शुल्क देकर प ... आजीवन-सदस्य बन स ...

डा० मं ... यक्ष)
श्री च ... मंत्री)
प्रो० ...
प्रो० ...
शीला ...
श्री रा ...
श्री ठा ...
श्री अ ...
डॉ० ...

समा ... शित तथा